अपनी बात

संसार को सत्य, धर्म और संस्कृति का पाठ पढ़ाने वाला देश १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के बाद ब्रिटिश शासन द्वारा कुचल कर रख दिया गया था। जागरण के सभी अंकुर मुरझा चुके थे। आपस की फूट, अन्धविश्वास, पाखंड, का सर्वत्र साम्राज्य था। विदेशी पादरी सभी को ईसाई बनाने का स्वप्न ले रहे थे। राज्य ही उनका था, मुल्ला-मौलवी हिन्दुओं को अपना शिकार बनाने के लिए सभी संभव उपाय बरत रहे थे।

आर्य जाति का नाम शेष था, आत्म विश्वास समाप्त हो चुका था। धर्म के गीत गाए जाते थे पर धर्म लुप्त हो चुका था। वेदानुयायी थे, पर उन के विचारों में वेद को शंखासुर निगल गया था और वेद भारत में अप्राप्य थे।

स्त्रियां तुलसीदास के मतानुसार—

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। य सब ताड़न के अधिकारी ।।

के अनुसार जीवन बिता रहीं थीं।

राम-कृष्ण ऋषि मुनियों का देश सब भांति दुर्दशा को प्राप्त हो चुका था, जीवन की आशा किसी को भी न थी। ऐसी घड़ी में बालक "मूल" के हृदय में शिवरात्रि के दिन ज्ञान की लौ जागी।

परिणाम स्वरूप "मूल" दयानन्द बना। गुरु विरजानन्द की शिक्षा से मन के सब संशय मिटे। दक्षिणा के समय गुरु को दक्षिणा में लौंग भेंट की। गुरु ने कहा कि दयानन्द, मुझे यह नहीं चाहिये। दे सकते हो तो मुझे यह दो संसार सच्चे वेद ज्ञान को भूल चुका है उसे जीवन का मार्ग बताओ, यही मेरी भेंट होगी। दयानन्द ने सच्चे शिष्य की भांति गुरु के आदेश की पूर्ति का संकल्प लिया और लग गया सत्य के प्रसार में।

उसी आदेश की पूर्ति का व्रत 'सत्यार्थप्रकाश' के रूप में प्रकट हुआ। जो ज्ञान गुरु विरजानन्द ने दयानन्द को दिया, उसी ज्ञान को अपने अनुभव और बुद्धि से अनुप्राणित कर दयानन्द ने "सत्यार्थ प्रकाश" रूप में संसार को दिया।

"सत्यार्थ प्रकाश" एक ऐसा अनमोल रत्नदीप बन गया जिसका प्रत्येक समुल्लास वस्तुतः प्रकाश-प्रभा से युक्त हो अंधकार को विदीर्ण करने की सामर्थ्य रखता है।

खड़ी बोली के उषाकाल में लिखा गया यह वह अमर ग्रन्थ है जिसमें जीवन के हर भाग का विवेचन केवल सत्य की दृष्टि से किया गया है। ऋषि का उद्देश्य "सत्य" केवल सत्य का प्रकाश करना था।

उन्हीं के शब्दों में मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्या-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है।

सत्य की परिभाषा ऋषि ने स्वयं की है। वे लिखते हैं कि—

"वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उस को वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य कहाता है"

ऋषि ने प्रथम दस समुल्लासों में वैदिक-मतानुमोदित सच्चा मार्ग दिखाया और पश्चात् चार समुल्लासों में अवैदिक मतों के दोष संक्षेप में प्रकट किए। दोष दिखाने में ऋषि का लक्ष्य किसी के भी हृदय को चोट पहुँचाना नहीं अपितु उनके दोष छुड़ाना था। उनके हृदय में मानव मात्र के प्रति ममता का सागर उमड़ रहा था। वे यह नहीं सह सकते थे कि अमोघ औषधि के होते हुए भी रोगी तड़प-तड़प कर मर जाएं। अतः उन्होंने पुराणी-किरानी व यवन मतों की सच्ची समीक्षा कर सबको पतन के मार्ग से हटा कर उन्नति की राह पर चलने का निमंत्रण दिया। उनका खंडन, ज्ञान के बीज बोने के लिए जमीन से झाड़-झंकाड़ उखाड़ फेंकने के समान है।

ऋषि की आंतरिक इच्छा थी कि मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए पक्षपात और जिद्द छोड़ कर विचार हों। वे लिखते हैं कि—

"पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्या सत्य सबको विदित हो जायगा"

ऋषि ने किसी भी मत की आलोचना एक पक्ष बनकर नहीं की अपितु लिखा है—

मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाईबिल और कुरान को प्रथम दृष्टि में ही बुरा न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का परित्याग तथा अन्य मनुष्य जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूं वैसा सब को करना योग्य है"

सत्यार्थप्रकाश के खंडनात्मक भाग का उद्देश्य यही है। ऋषि की दृष्टि में तो "मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य निर्णय के लिए है न कि वाद-विवाद विरोध करने करानेके लिए।" अत: ऋषि के ऊपरकिसी भी प्रकार कटुता या द्वेष का आरोप नहीं लगाया जासकता। पक्षपात से ऋषि कोसों दूर थे, उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "पक्षपात से क्या क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं। सच तो यह है कि क्षणभंगुर जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयंरिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है"

ऋषि का लक्ष्य तो संसार में एक ऐसे समाज की स्थापना करना था जिस में न कोई मत हो, न जाति, पंथ, फिरका या वाद। अपितु भूगोल के सभी मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बन, पक्षपात-स्वार्थ छोड़, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से वेद के आदेश की पूर्ति कर 'यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्' के स्वप्न को साकार बनाएं।

ऋषि चाहते थे कि "सब का विचार एक होकर परस्पर प्रेमी होके एक सत्यमतस्थ होवें।"

संसार के इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं कि भूमण्डल पर दयानन्द जैसा अन्य क्रांतिकारी मिलना कठिन है जिसने मनुष्य-मनुष्य के बीच मतभेद की दीवारों को गिराने के लिए किसी भी प्रकार का कोई समझौता पसंद नहीं किया। मानव मात्र की एकता उनका लक्ष्य था, शांति और आनन्द सभी पाएं, यही उनका चरम साध्य था।

ऋषि की महत्ता उनके अमर ग्रन्थ में सूर्य की भांति स्पष्ट है। उनका मातृ तुल्य स्नेह, ममत्व भरा हृदय, मनुज मात्र के प्रति समान रूप से अमृत बरसाता था।

उनकी यह 'पाखंड-खंडिनी पताका' चारों ओर वह अमृत-संजीवनी विकीर्ण करती है जो संसार को दुःख-कष्ट, अशान्ति और युद्ध की ज्वालाओं से छुटकारा दिलाकर शाश्वत सुख और आनन्द के लोक में पहुंचाती है।

इसी भावना से सत्यार्थ प्रकाश का उत्तरार्द्ध अनेक विद्वानों के विचार मंथन के साथ इस अंक में हम प्रस्तुत कर रहे हैं। ऋषि के अगाध ज्ञान की कुछ छाया इस विशेषांक से प्रकट होगी। वैसे तो ऋषि के एक-एक मन्तव्य पर ऊहापोह पूर्वक विशाल ग्रन्थ की आवश्यकता है। हमारे क्षुद्र प्रयत्न से यदि पाठकों को सत्यार्थ प्रकाश का अध्ययन और मनन करने की प्रेरणा प्राप्त हो तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

शिवरात्रि के दिन सत्य के प्रति जिज्ञासा जागी थी, इसी से यह भेंट शिवरात्रि के अवसर पर ही हम दे रहे हैं।

आज अंधविश्वास और अज्ञान को समाप्त करने के लिए सर्वत्र उपेक्षा का भाव दृष्टिगोचर होता है। यह स्थिति किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। हम सत्य की रक्षा और उसके प्रसार के लिए कटिबद्ध हों।

सोई धरती जागे, सुप्त मानवता जागे, अंधकार विदीर्ण करने का उत्साह जागे! आत्माहुति देकर भी सत्य की रक्षा का संकल्प जागे! यह उदात्त अभिलाषा ही बोधरात्रि का संदेश है।

क्षमा प्रार्थना ! धन्यवाद

अनेक कारणों से यह अंक भी पाठकों की सेवा में इच्छित योजना के अनुसार नहीं दे पा रहे। फिर भी विद्वान् लेखकों के सहयोग से जो कुछ बन पड़ा, प्रस्तुत है। इसमें जो भी श्रेय है वह आर्य जनता के उत्साह को और विद्वानों के परिश्रम को। त्रुटियों का ज्ञान हमें है, और उनके लिए हम सभी से क्षमा प्रार्थी हैं।

श्री पं० कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, श्री पं० राजेन्द्र, डा० श्रीराम शर्मा, श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक व श्री भवानीलाल 'भारतीय' एम० ए० श्री ओम्प्रकाश शास्त्री प्रभृति विद्वानों के लेख स्थानाभाव के कारण नहीं दे सके। अतः उनसे इस विश्वास के साथ क्षमा चाहते हैं कि भविष्य में भी हम उनके सहयोग से वंचित नहीं रहेंगे। उन लेखों को पाठक आगामी अंक में पढ़ सकेंगे।

आर्य जनों से विशेष

यह अंक हजारों की संख्या में छप रहा है १५-२० हजार से अधिक व्यक्ति तो इसे पढ़ेंगे ही। यदि आर्यजन ... हमारी प्रार्थना स्वीकार

। ऐसा

कर ८) भेज आर्योदय के स्थायी सदस्य बन जाएँ, तो हमारी अनेक समस्याएँ सुलझ सकती हैं।

हमारी सदा से इच्छा रही है कि आर्य समाज का एक सुदृढ़ साप्ताहिक हो। इसीलिए 'आर्योदय' जालन्धर से दिल्ली आया भी। फिर भी यह खेद की और लज्जा की बात है कि अभी तक 'आर्योदय' भारी घाटे में चल रहा है। हमारे पास प्रशंसा के ढेरों पत्र आते हैं, पर हम कोरे प्रशंसा पत्रों का क्या करें? आर्य जनता का क्रियात्मक सहयोग हमें चाहिए।

आप सहयोग दो प्रकार से कर सकते हैं—

१—अधिक से अधिक ग्राहक बना कर। जो आर्य समाजें ६ सदस्यों का धन इकट्ठा भेजदेंगी उन्हें ४०) भेजने होंगे। इससे जहाँ समाजों को ८) का लाभ होगा। वहाँ 'आर्योदय' को भी अपने पैरों पर खड़े होने का बल मिलेगा।

२—अपनी समाज में १० प्रतियाँ प्रति सप्ताह मंगाकर भी आप 'आर्योदय की लोकप्रियता बढ़ा सकते हैं। ऐसी हतभाग्य समाज कौन सी होगी जो प्रति सप्ताह २० पैसा देने वाले दस सदस्य भी न बना सके। इस तरह आप को ६) मासिक में १० प्रतियां प्रति सप्ताह मिलेंगी।

३—आर्य व्यापारी अपना विज्ञापन देकर भो सहयोग दे सकते हैं।

क्या समस्त आर्य जगत् मिलकर 'आर्योदय' को अपने पैरों पर खड़ा नहीं कर सकता।

—भारतेन्द्र नाथ

आवश्यक-सूचनाएँ

१—१६ फरवरी का अंक बोधरात्रि के अवकाश के कारण प्रकाशित नहीं होगा। अगला अंक २३ फरवरी का होगा। पाठक व एजेंट अंकित कर लें।

बोधरात्रि पर आकाशवाणी कार्यक्रम

११ फरवरी को सायं ७-४५ पर दिल्ली 'क' से श्री भारतेन्द्रनाथ 'साहित्यलंकार' की 'राष्ट्रवादी दयानन्द' शीर्षक एक वार्ता अखिल भारतीय आकाशवाणी से प्रसारित होगी।

वह बोधोत्सव !

—रमाकान्त—

जब नीरव अंधकार
भूमण्डल के वक्ष पर
चतुर्दिक पहरा दे रहा था।
अनजाने पथिक की भांति
सांसों का सरगम
भटक रहा था।
आशा पतन के गर्त में
आँसू बहा रही थी।
बाह्याडम्बरों के अहम् में
अवैदिक मतों का अन्धड़
चरणों में
बेड़ियाँ डाल रहा था।
तब
पाखंड-खंडिनी पताका लिये
'आर्योदय' की वेला में
गंगा के सुरम्य तट पर
हरिद्वार में खड़ा
दयानन्द !
दिशाओं के तिमिर को
वेद-विहित-विधान से
बर्फ के टुकड़े सा
गला रहा था।
सांसों का सरगम
वेद-मन्त्रों की
सुमधुर गूँज लेकर
मुखरित हो रहा था।
आशा का उपवन
सुवासित सुमनांजलि लिये
मंगलमय भोर की
सुमधुर किरणों का
पूजन-अर्चन कर रहा था।
दिशाएँ खिल उठी थीं।
अभिशाप का कुहासा
ज्ञान-दिवकार से
छँट रहा था।
सच्चे सुख की
स्रोतस्विनि पावन धारा
कल-कल छल-छल करती
सुधा-बिन्दुओं का
वरद आलोक लिए
जीवन में लहराने लगी थी !
रात बीत गई थी
दिन निकल आया था।
जिसका प्रकाश
सीमा को लाँधकर
असीम हो गया था।
वह दिव्य प्रकाश
मेरा तुम्हारा सबका
आज भी पथ प्रदर्शक है।
जिसने दयानन्द को
ज्ञान-संजीवनी दी
वह बोधोत्सव शिवरात्रि पर्व
अमूल्य क्षण
कितनाभव्य था,
कितना निर्मल, कितना पुनीत !!!

पुकारती यह रात्रि है

ससीम क्या, असीम क्या, सत्य क्या, असत्य क्या,
प्रश्न है विराट रूप, प्रश्न का स्वरूप क्या,

प्राण साधना करे, किसे, कहां, वह कौन है,
दीप, ज्योति-पुंज, लक्ष्य, साध्य, मंत्र कौन है,
कौन है महान् दिव्य शक्ति का अजस्र स्रोत,
कोटि-कोटि देह का सुबंध भाव कौन है ?

भावना उठी कि प्रश्न क्रांति रूप बन गया,
धर्म का स्वरूप त्याज्य-ग्राह्य क्या, उलझ गया,
भेद-भाव, फूट-द्वेष, भोग ही क्या इष्ट है,
सृष्टि का यह चक्र क्यों, चक्र जाल क्लिष्ट है।

थीं अनेक भ्रान्तियां, भ्रांत मार्ग सामने,
अग्नि कुंड जल रहे, युग चरण नापने,
झुलस रही शांति लता-सत्य शून्य था बना,
पुण्य भाव लग गए थे थर-थरा के कांपने

वेदज्ञान सूर्य को उठा के तब बढ़ा ऋषि,
पाप-ताप खंड-खंड होगए, चला ऋषि,
'सत्य किरण रश्मि' से अधर्म, कांपने लगा
पंथ वाद मत पुराण भूमि मापने लगा।

एकता के गीत सब मिल के गा सकें यहां,
सुख-दुखों को बांट के स्वर्ग ला सकें यहां,
भेद भावना जला, सब मनुष्य बन सकें,
मनुष्य बन के प्रेम से इस धरा पे रह सकें,

इस लिए जगा रही हमें यह बोध रात्रि है।
क्रान्ति साधना करो पुकारती यह रात्रि है।।

—भारतेन्द्र

उत्तरार्द्ध की रचना क्यों ?

—आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

महर्षि दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश के दश समुल्लासों में वैदिक धर्म और मंतव्य भूतसिद्धान्तों पर अपनी व्याख्या दी है। सिद्धान्तों का वर्णन 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में किया है। यहां एक प्रश्न सहजतया उठाया जाता है कि फिर उत्तरार्ध की रचना उन्होंने क्यों की ? इसका उत्तर उनकी उत्तरार्ध की अनुभूमिका में दिया गया है जो संक्षेप में निम्न दृष्टिकोण और हेतुओं को प्रस्फुट करता है:—

१—पांच सहस्र वर्ष से पूर्व वेदमत से भिन्न कोई दूसरा मत नहीं था।

२—वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं।

३—वेद के अप्रचार से ये मत फैले।

४—पुराणी जैनी किरानी और कुरानी वेद विरुद्ध मत हैं और अन्य सब वद विरुद्ध मतों के मूल हैं।

५—सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना तब हो सकता है जब सत्य का निर्णय कर लिया जावे। और सत्यासत्य का निर्णय करना मनुष्य जन्म का उद्देश्य है।

६—लुप्त हुए विज्ञान का मिलना दुर्लभ है।

७—मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फैले हुए हैं व विद्वज्जनों को परिज्ञात हैं।

इन उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुये यह समाधान पूर्वोक्त प्रश्न का हुआ कि सत्य के निर्णय के लिये मानव का जीवन है और उस निर्णय के अनन्तर वह सत्य को ग्रहण करे तथा असत्य को छोड़े और सत्य वह है जो कि विद्या के विरुद्ध नहीं है और-वेदोक्त सभी बातें इस कोटि में आने के कारण निश्चित सत्य हैं। अतः इस सत्य के स्वरूप का प्रकट करने के लिए यह आवश्यक है कि वेद विरुद्ध और विद्या विरुद्ध मतों का निराकरण किया जावे क्योंकि ऐसा करने से धर्म विज्ञान लुप्त नहीं होता है और मततान्तर के विवाद से

एकादश समुल्लास के अनुसार

आर्यावर्त देशीय मत-मतान्तर समीक्षा

- विहंगावलोकन
- वाम-मार्ग
- शांकर-मत
- मूर्ति-पूजा
- श्राद्ध
- तीर्थ
- पुराण
- पोप-लीला
- ब्राह्म-समाज, प्रार्थना समाज
- इतिहास

● ● ●

युग प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने प्रथम दस समुल्लासों में वैदिक धर्म के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम के कर्तव्याकर्तव्य का तथा राजनीति, ईश्वर वेद, मोक्ष और भक्ष्याभक्ष्य का वर्णन करने के पश्चात् यह आवश्यक समझा कि धर्म के नाम पर जो अधर्म और वेद के नाम पर जो अवैदिक मत-मतान्तर देश में फैले हुए हैं उनका खण्डन भी किया जाए।

पहले वैदिक मत का मंडन फिर अवैदिक मतों का खण्डन यही ऋषि की शैली है। मंडन जितना आवश्यक है खंडन उससे कम आवश्यक नहीं। किसी सुन्दर उद्यान के निर्माण के लिए उसमें सुन्दर वृक्षों का आरोपण जितना आवश्यक है जंगली घास फूस और कंटीली झाड़ियों का उच्छेदन भी उतना ही आवश्यक है।

इसी भावना से ऋषि ने ११ वें समुल्लास में उन सभी मतों का खण्डन किया है जो आस्तिक तो हैं किन्तु वेद विरुद्ध मान्यताओं के पोषक हैं।

ऋषि का उद्देश्य किसी के भी हृदय को चोट पहुँचाना नहीं, प्रत्युत सत्यासत्य का निर्णय कर जनता में नीर-क्षीर विवेक बुद्धि पैदा करना है।

एकादश समुल्लास में वर्णित प्रमुख विषयों पर विद्वानों के लेख आगे दिए जा रहे हैं। यद्यपि यह लेख ऋषि के लेख का स्थान नहीं ले सकते परन्तु लेखकों ने अपने ढंग से ऋषि के पद-चिन्हों पर चलते हुए उनके सफल मंतव्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हमें आशा है कि इन के प्रकाश में ग्यारहवें समुल्लास का सत्यार्थ समझने में पाठकों को सुविधा होगी—

—सम्पादक

● ● ●

विहंगावलोकन !

श्री मदनमोहन विद्यासागर

युग प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द द्वारा निर्मित सत्यार्थप्रकाश पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त है। पूर्व के दश समुल्लास पूर्वार्द्ध और पीछे के चार समुल्लास उत्तरार्द्ध कहाते हैं। पूर्वार्द्ध में 'वेदमत' का स्थापन मण्डनात्मक प्रमाणों और युक्तियों से किया गया है और उत्तरार्द्ध में 'वेदमत' से भिन्न और उसके विरोधी, दोनों प्रकार के मत-मतान्तरों का निराकरण खण्डनात्मक प्रमाणों और युक्तियों से किया गया है।

साधारण तौर पर इसे यों कहा जाता है कि ऋषि ने पूर्वार्द्ध में स्वमत-मण्डन और उत्तरार्द्ध में 'परमत-खण्डन' किया है अर्थात् पहले दशसमुल्लास 'मण्डनात्मक' और पिछले चार समुल्लास 'खण्डनात्मक' हैं। इसका इतना ही भाव है कि पूर्वार्द्ध का उद्देश्य 'सत्य वेदधर्म' के सिद्धान्तों के स्वरूप का मुख्य रूप से प्रतिपादन है। इसलिये यत्र-तत्र यदि किसी बात के खण्डन की आवश्यकता पड़ी, तो ऋषि ने वहीं उसका खण्डन भी साथ-साथ कर दिया है। प्रथम समुल्लास में उदाहरणार्थ सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के मुख्य नाम ओंकार के अर्थों का दिग्दर्शन और अन्य सौ नामों की व्याख्या बताई है। साथ ही 'ब्रह्मा विष्णु महादेव' इन तीन नामों में 'देवता विशेषों' का तथा अग्नि, वायु आदि शब्दों से, प्रसिद्ध, आग, हवा अर्थों का ही सदा ग्रहण करना चाहिये, इसका खण्डन कर

दिया है । ऐसे ही मंगलार्थक 'ओ३म्' और 'अथ' के विधान का अनुमोदन करते हुए, जो आधुनिक ग्रन्थों में पाये जाने वाले "श्री गणेशाय नमः"............ 'नारायणाय नमः' आदि मंगलाचरणों को वहीं मिथ्या बतलाया है; क्योंकि वेद और ऋषियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मंगलाचरण देखने में नहीं आता और आर्ष ग्रन्थों में 'ओ३म्' तथा 'अथ' शब्द से ही मंगलाचरण देखने में आता है ।

इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में वेदविरोधी मतमतान्तरों का खण्डन करते समय जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ स्वमत का स्पष्ट स्थापन भी कर दिया है । उदाहरणार्थ एकादश समुल्लास में 'तीर्थ' और 'नाम स्मरण' का विषय है । ऋषि ने काशी आदि तीर्थों के माहात्म्य का खण्डन किया है और फिर सच्चे तीर्थों का सत् स्वरूप बताया है । वहाँ लिखा है कि "वेदादि सत्य शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, सत्याचरण, ब्रह्मचर्य, आचार्य-अतिथि-माता-पिता की सेवा, ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना, उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ कर्म दुःखों से तारने वाले होने से 'तीर्थ' हैं । जो स्थान विशेष जल या स्थलमय हैं, वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते ।" ऐसे ही नाम स्मरण का विषय है । अवैदिक नामों और उनकी अवैदिक नाम स्मरण की पद्धति का खण्डन करके वहीं वेदोक्त नाम स्मरण की रीति बतला दी है कि "जैसे 'न्यायकारी', यह ईश्वर का एक नाम है, जिसका अर्थ है न्याय करने वाला । जैसे परमात्मा पक्षपात-रहित होकर सबका यथावत् न्याय करता है, वैसे उसको ग्रहण करके सबसे न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना, अन्याय कभी न करना । इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभाव करते जाना ही परमेश्वर का नाम स्मरण है ।"

इस प्रकार ज्ञात होता है कि स्वमत स्थापक पूर्वार्द्ध में भी यत्र-तत्र 'खण्डन' है और परमतोन्मूलक उत्तरार्द्ध में यत्र तत्र "मण्डन" है ।

मण्डन-खण्डन का प्रयोजन

'वेदमत' के स्थापन=पुनरुद्धार=मण्डन का "मुख्य प्रयोजन सत्य २ अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है, उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना ।.........जो पदार्थ मत, सिद्धान्त) जैसा

है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।·········मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य (मतों, सिद्धान्तों, विषयों) का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन (=स्वार्थ) की सिद्धि (के निमित्त) दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।"·······"इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि" करना इसका तात्पर्य है। इसका प्रयोजन यही है कि—जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को (सब) मनुष्य जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें।'[१]·········ऐसी बातों को चित्त में धर कर ऋषि ने "सत्यार्थप्रकाश" को रचा है।

पूर्वार्द्ध के दस समुल्लासों में "विशेष खण्डन-मण्डन" (अर्थात् तर्क-वितर्क) इसलिये नहीं लिखा है कि जब तक मनुष्य सत्यासत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य नहीं बढ़ाते, तब तक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों (=गहरी निषेधात्मक समालोचना) के अभिप्राय को नहीं समझ सकते। इसलिये प्रथम (पूर्वार्द्ध में) सबको सत्य-शिक्षा का उपदेश (अर्थात् वेदमत का मण्डन) करके उत्तरार्द्ध के चार समुल्लासों में विशेष खण्डन"[१] किया गया है। "परन्तु सामान्य करके कहीं २ दश समुल्लासों में भी कुछ थोड़ा सा खण्डन-मण्डन किया है।"[१] इन चारों में से प्रथम (अर्थात् एकादश) समुल्लास में आर्यावर्त्तीय मतमतान्तर, दूसरे (१२वें) में जैनियों के, तीसरे (१३वें) में ईसाइयों और चौथे (१४वें) में मुसलमानों के मतमतान्तरों के खण्डन-मण्डन के विषय में" लिखा गया है।" "और पश्चात् चौदहवें समुल्लास के अन्त में स्वमत भी दिखलाया"[१] गया है।

"पाँच सहस्र वर्षों के पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत (संसार में) न था।"·········वेदों की अप्रवृत्ति होने से·········मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया, वैसा मत चलाया। उन सब मतों में···········वेद विरुद्ध पुरानी, जैनी (+बौद्ध) किरानी और कुरानी सब

---

१. सत्यार्थ प्रकाश उत्तरार्द्ध भूमिका।

मतों के मूल हैं। वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है।...... इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तर रूप मत आर्यावर्त्त देश में चले हैं, उनका संक्षेप से गुण-दोष ११वें समुल्लास में दिखाया" १ गया है।

ऋषि दयानन्द ने—जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं,......(वेद-अविरुद्ध होने से) उनका स्वीकार करके, जो-जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उनका खण्डन किया है।"२

ऋषि दयानन्द ने आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न होकर भी, इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का निर्भय हो, पक्षपातशून्य हृदय से, यथातथ्य प्रकाश किया; वैसे ही दूसरे देशस्थ व मतावलम्बियों के मत-मतान्तरों के पाखण्ड की पोल खोली। और जैसे स्वदेश वालों की सर्वविध उन्नति के विषय में प्रयत्न किया, वैसे ही विदेशियों के साथ भी।

समालोचना या खण्डन

आजकल 'समन्वयवाद' नाम का बड़ा प्रचार है। 'खण्डन' शब्द कुछ बदनाम है। ऋषि दयानन्द के सब पाखण्डमतों के खण्डन से आजकल के नेता और विचारक घबराते हैं। वे कहते हैं कि 'खण्डन' करके ऋषि दयानन्द ने अच्छा नहीं किया।

सत्य यह है कि 'खण्डन' के अर्थ और उसके प्रयोजन को इन सब लोगों ने ठीक नहीं समझा। वे कहते हैं कि एक को दूसरे की 'समालोचना करने' का हक तो है, पर 'खण्डन का नहीं।' इनके मन में अंग्रेजी के दो शब्द चक्कर काटते रहते हैं; एक है 'क्रिटिसिज्म' और दूसरा है 'कण्डेमेशन'। पहले का अर्थ है किसी सिद्धान्त या मत या वाद की समालोचना करना और दूसरे का भाव है उसकी दूषणा करना या उसका खण्डन करना।

भारत में दार्शनिक सम्प्रदायों में खण्डन-मण्डन हमेशा चलता रहा है। यहाँ खण्डन करने में दो भाव निहित हैं। यदि कोई सिद्धान्त दोषयुक्त या बुद्धिविरुद्ध है, तो पहला काम है कि हम उसका अच्छी तरह 'विवेचन' करें

---

१. सत्यार्थ प्रकाश उत्तरार्द्ध, भूमिका ११वाँ समुल्लास

२. सत्यार्थ प्रकाश भूमिका

और फिर जब उसके दोषों का ज्ञान हो जावे, तो उसका 'निराकरण' करदें। एक सिद्धान्त का विवेचन अर्थात् उसके गुणदोषों की सम्यग् परिशीलना और तदनन्तर सदोष एवं हानिकर पाये जाने पर उस सिद्धान्त का निराकरण या निषेध। इस सारी प्रक्रिया का नाम खण्डन है। क्योंकि यह 'परमत' है, इस लिये स्वीकार्य नहीं, सो इसका 'खण्डन' हो, यह अर्थ खण्डन का नहीं। यही कारण है कि ऋषि ने जिस निर्भयता एवं पक्षपातरहित बुद्धि से विदेशस्थ मतों का खण्डन किया है, उतनी ही निर्भयता एवं पक्षपातशून्य बुद्धि से स्वदेशस्थ पाखण्ड मतों का खण्डन भी किया है।

इसी प्रकार मण्डन का उद्देश्य है। उसमें विवेचन के बाद यदि वह दोष-रहित एवं सर्वजनहितकारी है, तो उसका ग्रहण करना चाहिए। मण्डन तभी पूरा होगा, जब कि वह विवेचनापूर्वक हो। ऋषि दयानन्द ने 'वेदमत' का मण्डन इसलिये नहीं किया कि यह स्वदेशस्थ मत है। तीन सहस्र ग्रन्थों तथा इन चारों मतों के मूल ग्रन्थ देखने से जैसा उन्हें बोध हुआ, वैसा पक्षपातरहित मन से निश्चय कर सबके उपकार की भावना से और सबको परस्पर सत्या-सत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिये "सत्यार्थप्रकाश" ग्रन्थ द्वारा वेदमत की पुन: स्थापना की।

एकादश समुल्लास : सार

उत्तरार्द्ध के भी दो भाग किये जा सकते हैं। प्रथम के दो अर्थात् ग्यारहवां और बारहवां समुल्लास आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए मत-मतान्तरों के वेद-विरुद्ध सिद्धान्तों के खण्डन में हैं; तथा पिछले दो अर्थात् तेरहवां और चौदहवां समु-ल्लास भारतेतर देशों में प्रसिद्ध ईसाई और मुसलमानी मतों के समालोचनात्मक खण्डन में हैं।

इनमें भी जो ग्यारहवां समुल्लास है, वह विशेष महत्व रखता है। इसका सार यों है:—

१. पांच सहस्र वर्षों से पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई मत भूमण्डल पर नहीं था।

२. सृष्टि से लेकर पांच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य भूमण्डल पर था अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था।

३. महाभारत युद्ध के कारण सर्वत्र 'वेदों की अप्रवृत्ति' हो गई। इनकी अप्रवृत्ति से भूगोल में अविद्यान्धकार छा गया। जिससे मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया उसने वैसा मत चला दिया।

४. इनमें से जो पुराणादि ग्रन्थों से शाखा-शाखान्तर रूप मत आर्यावर्त्त देश में चले हैं, उनमें मुख्य रूप से चार्वाक और वाममार्गी हैं। ये नास्तिक मत हैं।

५. इनके बाद शैव, वैष्णव आदि मतों ने अपना जाल फैलाया। ये सब आस्तिक मत हैं। परन्तु इन मतों में वेदोक्त ईश्वर का सच्चा स्वरूप बदल गया और भिन्न २ देवों को अपना इष्टदेव माना जाने लगा। वेद के स्थान पर पुराणों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। ईश्वर पूजा की जगह गुरुपूजा, अष्टांग-योग व पंचमहायज्ञों के स्थान पर नाम-स्मरण, तीर्थ-माहात्म्य चल पड़े।

६. इसी समय जैन (+बौद्ध) मत चल पड़ा। जैनियों ने मूर्तिपूजा चलाई। शैव और वैष्णवादि मत यद्यपि सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर को मानते थे, तथापि उनके प्रचार के साथ २ नास्तिक मत का प्रचार भी जोर पर था। नास्तिकता के प्रचार को जैन मत के कारण बहुत प्राबल्य मिला।

७. उस समय शैव वैष्णव मतवालों ने जैनों के प्रभाव से जन साधारण को बचाने के लिये स्वयं भी नाना देवों की मूर्तियों की स्थापना की और बड़े २ मन्दिर बनवाये और अपना पाखण्ड-जाल फैलाया, पर वे नास्तिकों का मुकाबला न कर सके।

८. इस नास्तिक मत का खण्डन करके द्रविड़ देशोत्पन्न श्री शंकराचार्य ने केवल ब्रह्मवाद अर्थात् अद्वैतवाद का प्रचार किया। नास्तिकों का नारा था—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

शंकर का नारा था—

ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः

९. शंकराचार्य ने अपने प्रबल तर्क से नास्तिक बौद्धमत का उन्मूलन कर दिया। 'जैन' और 'चार्वाक' मत यद्यपि नास्तिक मत हैं, तथापि क्योंकि ये मूर्ति-पूजा के प्रसार के कारण जनसामान्य के हृदय में बढ़ गये थे, परिणामतः श्री

शंकराचार्य इन मतों को उखाड़ न सके। मूर्तिपूजा और वाममार्ग दोनों अद्वैत-वाद के साथ २ चलने लगे। अद्वैतवादियों ने मूर्तिपूजा को स्वीकार कर लिया और वाममार्ग हठयोग का परिष्कृत नाम धारण कर पनपता रहा।

१०. इसके साथ २ पुराणों का जोर बढ़ने लगा। श्री शंकर ने निस्सन्देह 'वेदमत-स्थापन' का प्रयत्न किया, परन्तु अपने आन्दोलन का आधार 'उपनिषद्, गीता और वेदान्त दर्शन रक्खा। भारत देश में 'धर्म की व्यवस्था' और 'आचरण' के लिये श्रुति व स्मृति प्रमाण थे। 'ऋग्, यजुः, साम, अथर्व' का विरोध चार्वाक और जैन बौद्ध कर रहे थे, सो श्री शंकर ने उन्हें छोड़, उसके स्थान पर 'उपनिषद्' को अपना प्रमाण बनाया। स्मृतियों व पुराणों में वर्णित धर्म के स्वरूप और ब्राह्मण नामधारियों के माहात्म्य से भी प्रजा को विरोध था, सो श्री शंकर ने स्मृति के स्थान पर गीता को ले लिया। विचार-प्रणाली के लिए षड् दर्शनों में से वेदान्त को ले लिया और इस प्रस्थानत्रयी पर अद्वैतवाद—केवल ब्रह्मवाद, का झण्डा खड़ा किया। परिणामतः प्रजा में वेदों की अप्रवृत्ति कुछ बढ़ गई। और भारत अन्धन्तम में प्रवेश कर गया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि शंकराचार्य के आन्दोलन के परिणामस्वरूप भारत में वेदों के प्रति उपेक्षा बढ़ी, वेदों का प्रचलन कम हो गया। इसी-लिये उनके पश्चाद्वर्त्ती श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्व आदि ने भी प्रस्थान त्रयी को ही अपने आन्दोलन का आधार बनाया।

११. नाना मतमतान्तर चल पड़े। मतवादियों ने नाना ग्रन्थ बनाये। गुसाईं मत, रामसनेही आदि मत इसी की उपज हैं।

१२. इसी समय इस्लाम का प्रवेश आर्यावर्त्त में हुआ। इस्लाम ने भारत की 'हर बात' का विरोध किया। उस समय 'गुरुनानक' ने हिन्दू मत की रक्षा का प्रयत्न किया। क्योंकि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, परिणामतः श्री शंकर की तरह किन्हीं संस्कृत ग्रन्थों को अपना आधार न बना सके और दादू, कबीर आदि साधुसन्त फकीरों की अपीलिंग वाणियों के द्वारा स्वमत-रक्षण में तत्पर हो गये। उनका एक पृथक् 'सिख मत' बन गया। एक पृथक् 'गुरुग्रन्थ' चल पड़ा।

१३. उधर सौराष्ट्र-गुजरात की ओर सहजानन्द ने वैष्णवमत एवं वैष्णव आचार को लेकर अपना ही एक नया सम्प्रदाय "नारायणमत" नाम से

प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रकार राजपूताने में "रामसनेही" मत का प्रारम्भ हुआ।

१४. १७ वीं शताब्दी में विदेशी योरोपीय जातियों का प्रभुत्व भारत में बढ़ने लगा। उन्होंने ईसायत को प्रश्रय दिया, अंग्रेजी भाषा के द्वारा पाश्चात्य विचारों का प्रभाव बढ़ने लगा। परिणामतः सभी पर नया रंग चढ़ने लगा। इस प्रभाव से पर्याप्त प्रभावित श्री राजाराम मोहनराय ने बंगदेश में "ब्राह्म समाज" की स्थापना की और भारत देश में नये प्रकार के 'नामरूप' वाले मत व सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। बम्बई में "प्रार्थना समाज" भी ऐसे ही चला।

१५. महाभारत से श्री शंकराचाय तक, यद्यपि धीरे २ वेदों में अप्रवृत्ति रही, परन्तु फिर भी वेद और उसका धर्म ही आर्य जाति के प्रेरक रहे। उधर विदेशों में वेदमत का लोप होता रहा। श्री शंकराचार्य से लेकर इस्लाम के आने तक, भारत में 'वेदमत' का नाम रह गया और उसके स्थान पर उपनिषद्, गीता और दर्शनों का प्रभाव बढ़ गया। इस्लाम के प्रवेश से ऋषि दयानन्द के प्रादुर्भाव तक, इस बीच के समय में वेद और वैदिक आचारों का प्रायः लोप हो गया, केवल नाम रह गया। इतना ही नहीं, वेद का नाम ले-लेकर मतमतान्तर अलग २ राग अलापने लगे। ऐसे समय ऋषि दयानन्द का जन्म हुआ।

१६. उन्होंने इन सब मतमतान्तरों का खण्डन किया और फिर वेद-व्यास महर्षि की तरह वेदों का पुनरुद्धार किया। आर्यावर्त्तीय पाखण्ड मतों का खण्डन कर, इस देश में पुनः 'वेदमत' का मण्डन किया।

उपसंहार

वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में मानव की उत्पत्ति के साथ-साथ हुआ। मानव उत्पत्ति हिमालय के समुन्नत प्रदेश में हुई। इसलिये वेदों का धर्म भी आर्यावर्त्त प्रदेश में जैसे तैसे चलता रहा, वेद सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की प्रेरणा से सर्गादि में अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा इन चार ऋषियों के हृदय में अवतरित हुए। इनके आधार पर मानव के 'जीवन' की व्यवस्था हुई। इसके

तीन आधार स्तम्भ हैं, ईश्वरीय ज्ञान वेद, वेदानुमोदित ईश्वर की पूजा और वेद प्रतिपादित 'धर्म'।

काल क्रम से तीनों के सम्बन्ध में मतिभ्रम हो गया। वेदों के स्थान पर पुराणादि ग्रन्थ चले, ईश्वर की पूजा से स्थान पर नाना देवी-देवों की पूजा चली और वह भी बुद्धि विरुद्ध तरीके मूर्तिपूजा के रूप में तथा धर्म के स्थान पर तीर्थ माहात्म्य, श्राद्ध, पशुबलि, पंचमकार सेवा, पंचायतन सेवा, भस्मलेपन, कण्ठी रुद्राक्ष माला आदि।

एकादश समुल्लास में जिन मतमतान्तरों का खण्डन किया गया है, उनके खण्डित सिद्धान्तों=निराकृतवादों=परित्याज्य मतों को इन तीनों के अन्तर्गत कर सकते हैं। इनमें 'वेदों' के स्थान पर अनार्ष ग्रन्थों पर विशेष जोर दिया गया है। इनमें ईश्वर के निराकार सच्चे रूप के स्थान पर साकार रूप की पूजा का विधान है। इनमें अष्टांग योग एवं मनुप्रतिपादित दशलक्षण धर्म के स्थान पर हठयोग, झूठे तप, तीर्थ, नामस्मरण, गुरुपूजा, आदि को धर्म बताया है।

ऋषि दयानन्द ने इन सबका युक्तियुक्त खण्डन करते हुए सोते आर्यावर्त्त वासियों को जगाया और कहा—

"यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में कोई दूसरा देश नहीं। इसका नाम सुवर्ण भूमि है। सृष्टि के आदि में (तुम्हारे पूर्वज) आर्य लोग इसी देश में आकर बसे।............

"सृष्टि से लेकर पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त (इन) आर्यों का ......भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था।......स्वायम्भव राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का (यह) चक्रवर्ती राज्य रहा।

"यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब (इस) आर्यावर्त्त देश से ही प्रचरित हुए हैं।'.........."जितनी विद्या भूगोल में फ़ैली है, वह सब (इस) आर्यावर्त्त देश से मिश्र वालों, उनसे यूनानी, उनसे रोम और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमरीका आदि देश में फैली है।" "जैसी पूरी विद्या (पवित्र भाषा) संस्कृत में है, वैसी (अंग्रेजी आदि) किसी भी भाषा में नहीं।".........(और) अब तक जितना प्रचार संस्कृत विद्या का आर्यावर्त्त देश में है, उतना अन्य किसी देश में नहीं।"—"परन्तु ऐसे शिरोमणि

देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि अब तक (१९वीं शताब्दी तक) भी यह अपनी पूर्वदशा में नहीं आया।

"वेदों की अप्रवृत्ति होने से ही नाना मतमतान्तर और पाखण्ड मत चल पड़े हैं।......पोपों अर्थात् छल-कपट से दूसरों को ठग कर अपना प्रयोजन साधने वालों ने झूठे-झूठे वचन युक्त ग्रन्थ बनाकर उनमें ऋषि मुनियों के नाम धर के उन्हीं के नाम से यह सब वेदविरुद्ध पाखण्ड लीला चलाई है।... जैनियों ने भी वेद का अर्थ न जानकर पोपलीला फैलाई, मूर्तिपूजा चलाई और वेदों की निंदा की; वेदों के पठन-पाठन, यज्ञोपवीतादि ब्रह्मचर्यादि नियमों का नाश किया; जहाँ जितने पुस्तक वेदादि के पाये नष्ट किए। आर्यों (वेद-मतावलम्बियों) पर बहुत सी राजसत्ता भी चलाई, दुःख दिया।

"ऐसा तीन सौ वर्ष पर्यन्त आर्यावर्त्त में जैनों का राज्य रहा। (आर्यावर्त्त-वासी) प्रायः वेदार्थ ज्ञान से शून्य हो गये। इस बात को अनुमान से (आज २० वीं सदी से) अढ़ाई सहस्र वर्ष व्यतीत हुए होंगे।"

"तब से आर्यावर्त्त देश की जो दशा बिगड़ी, वह सुधरी नहीं।"

"जो बाल्यावस्था में एक सी शिक्षा हो, सत्यभाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्याभाषणादि अधर्म का त्याग करें, तो एकमत अवश्य हो जाय।... जब सब विद्वान् एक सा उपदेश करें, तो एकमत होने में कुछ भी विलम्ब न हो।"—"यही......सब विद्वानों और संन्यासियों का काम है कि सब मनुष्यों को सत्य (वेदमत) का मण्डन, असत्य (वेदविरुद्ध चार्वाक, शैव. वैष्णव, गुंसाई, कबीरपन्थ, सिक्खमत, प्रार्थना समाज, ब्राह्मसमाज, आदि २) का खण्डन पढ़ा-सुना के सत्योपदेश से (सब संसार को) उपकार पहुँचाना चाहिये।"

देखो! तुम्हारे सामने अब इस बीसवीं सदी में भी पाखण्ड मत बढ़ते जाते हैं। अब भी ईसाई मुसलमान तक होते जाते हैं। तनिक भी तुम (भारतीय आर्यों) से अपने घर की दशा और दूसरों को अपने मत में मिलाना नहीं बन सकता।............

"इसलिये जो उन्नति करना चाहो, तो आर्य समाज के साथ मिलकर उस के उद्देश्यानुसार आचरण करो। जैसा आर्यसमाज देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।

वाममार्ग का उद्भव, स्वरूप और विकास

श्री क्षितीश वेदालङ्कार

o o o

वाममार्ग का उद्भव जिन तन्त्रग्रन्थों से हुआ उनके पठन-पाठन की परम्परा अब प्राय: विद्वानों में भी नहीं रही। उसके कारण अनेक हो सकते हैं, किन्तु उनके बिना वाममार्ग के स्वरूप पर उचित प्रकाश भी नहीं पड़ सकता। स्वाध्यायशील लेखक ने इस दुरूह विषय पर अद्भुत रूप से प्रकाश डाला है जिस से अनेक गुत्थियाँ सुलझती दृष्टिगोचर होंगी। —सम्पादक

o o o

सांख्यदर्शन का सूत्र है—उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः। इतरथान्धपरम्परा॥ [अ० ३। सूत्र ७९।] अर्थात् जब उत्तम उपदेशक होते हैं तब उनके उपदेश से जनता में धर्म और सदाचार के मूल्यों की यथावत् स्थापना रहती है और लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि की ओर, बिना एक दूसरे का अतिक्रमण किए अग्रसर रहते हैं, किन्तु जब उत्तम उपदेशक या उनके उपदेश पर आचरण करने वाले नहीं रहते तब जनता में अन्ध परम्परा चल पड़ती है। जो जिसके जी में आए करने लग जाता है और वह अपने आचरण को ही प्रमाण मान कर उसे धर्मानुमोदित सिद्ध करने में हीं अपनी बुद्धि का प्रयोग करने लगता है।

कालक्रम से जब वेदों का पठन-पाठन लुप्त हो गया, स्वाध्याय के प्रति ब्राह्मणों की रुचि नहीं रही, तब वे स्वयं भी विद्या-विहीन हो गए और उनके

यजमान भी। पहले ब्राह्मण अपनी विद्या और धर्माचरण के कारण जनता में पूजित थे, किन्तु जब ये दोनों बातें उनके जीवन में न रहीं तब ब्राह्मणकुल में जन्म के कारण ही वे अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध करने लगे। अपने आपको 'भूसुर' बताकर उन्होंने निज को पूजार्ह करार दिया और जातिवाद को प्रश्रय दिया। स्त्री, शूद्र तथा अन्य निम्नवर्ग के लोगों को उन्होंने विद्या का अन-धिकारी घोषित किया। गुरु की महत्ता सिद्ध कर गुरु की सेवा को ही मोक्ष का परम साधन बताया। वेदों के नाम पर उन्होंने यज्ञों में पशुहिंसा आदि नितरां अवैदिक काम प्रारम्भ कर दिए। अपने आपको सब प्रकार के धर्म,कर्म से ऊपर बताकर मद्य मांसादि का स्वच्छन्द सेवन प्रारम्भ कर दिया और प्राचीन ग्रन्थों में मद्य-माँस-समर्थक श्लोक प्रक्षिप्त कर दिए एवं स्वयं भी ऐसे अनेक नए ग्रन्थ लिखे जिनमें इनके सेवन को सदोष तो माना ही नहीं गया, प्रत्युत इनके सेवन को धर्म का अंग बताया गया। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि वेदों की दृष्टि में जो अनाचार और अधर्म था वही आचार और धर्म बन गया। उन्होंने 'ब्राह्मणो न हन्तव्य:' अर्थात् ब्राह्मण अवध्य है—इस बात की घोषणा करके अपने अनाचार के लिये अपने को दण्ड से भी मुक्त कर लिया। उन्होंने राजाओं को निश्चय करा दिया कि ब्राह्मण चाहे जो करे, उसे दण्ड देने की बात कभी मन में नहीं लानी चाहिए। (नेपाल के कानून में ब्राह्मण अभी तक अवध्य है।) उनका यथेष्टाचार बढ़ चला। उन्होंने दूसरों के लिए इतने कठोर नियम बनाए कि पुरोहित, गुरु या ब्राह्मण की आज्ञा के बिना यजमान अपना नित्य कर्म भी नहीं कर सकता था। वे अपने चरणों की और अपनी पूजा कराने लगे और लोगों को बताने लगे कि इसी में तुम्हारा कल्याण है। प्रमाद और विषयासक्ति में निमग्न होकर उन्होंने भेड़चाल की तरह गुरु-शिष्य परम्परा चलाई। धीरे-धीरे राष्ट्र में से बल, विद्या, बुद्धि और पराक्रम के शुभ गुण नष्ट होते गए।

आरम्भ काल !

यद्यपि यह प्रवृत्ति महाभारत काल से कुछ पूर्व ही देश में प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु महाभारत के पश्चात्, खास कर महात्मा बुद्ध के पश्चात्, तो यह प्रवृत्ति बाढ़ की तरह बढ़ चली। उसी युग में श्राद्ध, मूर्तिपूजा, यज्ञों में पशुहिंसा और

मूर्तियों पर बलि, अनेक देवता, अपने इष्ट देवता के नाम से अलग सम्प्रदाय, प्राचीन ग्रन्थों में मिलावट, आगम-निगम-संहिता और तंत्र ग्रन्थों की रचना एवं अष्टादश पुराणों का निर्माण हुआ। बौद्धधर्म के विभिन्न 'यान' नामक सम्प्रदायों (जिनमें ये चार मुख्य थे-हीनयान, महायान, वज्रयान और सहजयान) और हिन्दुओं के वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से उस युग में एक नए मत का प्रचलन हुआ, जिसे वाममार्ग या वामाचार नाम दिया गया।

महात्मा बुद्ध अब से लगभग ढाईसहस्र वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। बौद्धमत कभी इस देश में इतना लोकप्रिय हुआ था कि राजा और प्रजा इसी के अनुयायी बनने में गौरव अनुभव करते थे। बौद्धों में अपने नए मत के प्रचार के लिए 'मिशनरी स्प्रिट' भी कमाल की थी। बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी इसी मिशनरी भावना के बल पर बौद्ध मत का प्रचार भारत के बाहर के देशों म भी किया था। जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, बालि, बोर्निया, स्याम और हिन्देशिया आदि पूर्वी एशिया के देशों में तथा ईरान, अफगानिस्तान, लंका, तिब्बत, चीन और जापान आदि अन्य एशियाई देशों तक ये बौद्ध भिक्षु बुद्ध का 'चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय' आदेश मस्तक से लगाकर गए, हिमाच्छादित पर्वतों को लांघकर और अगाध जलराशि से युक्त समुद्रों के तूफानों की विभीषिकाओं को झेलते हुये उन्होंने शारीरिक कष्टों की बिना परवाह किए अपने मत का प्रचार किया। भारतीय संस्कृति के प्रसार की दृष्टि से वह युग भारत के इतिहास का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का वह क्रान्तिकारी रूप लुप्त हो गया। बुद्ध के एक सहस्र वर्ष पश्चात् नाना सम्प्रदायों में विभक्त होकर बौद्ध मत इतना जीर्ण-शीर्ण, व्यामिश्रित और अनाचार-प्रधान हो गया कि बुद्ध ने जिस आचार पर सर्वाधिक बल दिया था वही आचार उसमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था। हिन्दुओं में भी उस समय जो नाना सम्प्रदाय उभरे वे बौद्धों की उसी अनाचार, प्रधानता से प्रभावित थे। परवर्ती बौद्ध धर्म और विभिन्न तांत्रिक मतों में आचार और दर्शन की इतनी अधिक समानता है कि उनमें भेदक रेखा खींचना कठिन है। जिस देश में बौद्ध धर्म ने जन्म लिया उसी देश में वह नामशेष हो गया—इतिहास की इस अघटनीय घटना की व्याख्या भी यही है कि जब हिन्दू

तांत्रिक मतों में और बौद्ध सम्प्रदायों में कोई भेद न रहा, तब बौद्धों के अलग अस्तित्व की भी आवश्यकता न रही। वास्तव में कहना चाहिए कि दोनों ही समान रूप से अनाचार के समुद्र में डूब गए। वर्तमान में जो तथाकथित विशाल हिन्दू समाज का पारावार है, वह वही अनाचार का समुद्र है, जिसमें हिन्दू और बौद्ध तांत्रिकों की मनमानी रुढ़ियों की कुनदियाँ आकर गिरती हैं। इसी अनाचार के समुद्र को ऋषि दयानन्द ने आचार के पारावार में परिवर्तित करने के लिए आर्य समाज को जन्म दिया था।

महाभारत में तंत्र ग्रन्थों को धार्मिक ग्रन्थों के रूप में कहीं स्मरण नहीं किया गया। अलबत्ता पुराणों में उनकी चर्चा है। इससे भी पुराणों के साथ उनकी समकालीनता और महाभारत से अर्वाचीनता सिद्ध होती है। इतना ही नहीं, बुद्ध के लगभग १,००० वर्ष पश्चात् भी पुराणों का या तंत्र-ग्रन्थों का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उसके बाद के एक हजार साल में तो जैसे इनका ही बोलबाला बना रहा और १२ वीं सदी तक वे ही सर्वत्र छाए रहे।

अश्लील मूर्तियां क्यों ?

जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर, खजुराहो और द्वारिकापुरी आदि मन्दिरों की दीवारों पर जितनी अश्लील मूर्तियाँ पाई जाती हैं उनका औचित्य सिद्ध करने के लिये बताया जाता है कि मन्दिर पर बिजली न गिरे, इसलिए ये अश्लील मूर्तियाँ बनाई गई हैं, क्योंकि विद्युतकुमारी कन्या है, वह इन मिथुन मूर्तियों को देखकर संकोच के कारण इनकी तरफ आँख नहीं उठाएगी। किन्तु उसी काल के बने नेपाल के बौद्ध मन्दिरों में ये अश्लील मूर्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत दीवारों पर सर्वत्र ध्यान मग्न बुद्ध की मूर्तियाँ हैं। जब एक पौराणिक पण्डित से मैंने अपनी नेपाल-यात्रा में इस विपर्यास का कारण पूछा, तब उसने कुछ गर्व के साथ कहा कि "हिन्दुओं के मन्दिरों में अश्लील मूर्तियाँ यह दिखाने के लिए हैं कि हिन्दू साधक इस प्रकार की कामोत्तेजक मूर्तियों से भी विचलित नहीं होता और मन्दिर में जाकर अपने इष्ट देवता की आराधना में लीन हो जाता है, इस प्रकार वह बौद्ध साधक से श्रेष्ठ है। बौद्धों से हिन्दुओं की साधना की श्रेष्ठता बताने के लिए ही अश्लील मूर्तियाँ बनाई

गई हैं।" परन्तु वस्तु स्थिति भिन्न है। आज के युग में, उन मूर्तियों का औचित्य यूरोप की सी नग्न कलाप्रियता के नाम पर किया जाए तो किया जाय, धर्म के नाम पर कदापि नहीं किया जा सकता। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के जितने भी मन्दिर हैं उनमें से एक हजार साल से अधिक पुराना एक भी नहीं है। ये सब मूर्तियाँ उस युग की देन हैं जब अश्लीलता धर्म का अंग मानी जाती थी। वह वाममार्ग का युग था। वाममार्ग के उस युग में ही मूर्तियों की षोडशोपचार पूजा, देवदासियों की प्रथा, अवतारवाद, राधा और कृष्ण की प्रेमलीला, अष्टधा भक्ति, नाम संकीर्तन आदि की अवैदिक और पौराणिक कल्पनाओं का विकास हुआ, उनको धर्म का अंग माना गया और आज भी पौराणिक धर्म में उन्हीं का प्राबल्य है।

वाममार्ग नाम क्यों

वाममार्ग को वाम मार्ग इसलिये तो कहा ही गया कि वह उल्टा रास्ता था, किन्तु उसे वाममार्ग या वामाचार इसलिए भी कहा गया कि इसमें वामा अर्थात् स्त्री का महत्त्व था। इसमें स्त्री को शक्ति का प्रतीक माना गया। शक्ति अर्थात् आद्याशक्ति, आद्याशक्ति अर्थात् जगज्जनन्नी। 'शक्ति' केवल वैयाकरण की दृष्टि से ही स्त्रीलिंगी नहीं है, किन्तु उसमें मानव मन की यह अनुभूति भी समाविष्ट है कि जैसे माता के पेट से शिशु जन्म लेता है, उसी प्रकार समस्त सृष्टि का अभ्युदय जगज्जननी के पेट से होता है। उस शक्ति को समस्त देवताओं का आराध्या माना गया। उसी शक्ति में जगत रचयिता ब्रह्मा का, जगत्पालयिता विष्णु का और जगत्-संहर्ता महाकाल का आवास माना गया। वह शक्ति ही जगत्-कारिका, जगत् पालयित्री और महाकाल की स्वामिनी—उसके शव पर नृत्य करने वाला—सब देवताओं की अधिष्ठात्री मानी गई। एक ओर उमा, पार्वती, काली, दुर्गा, चण्डी और दूसरी ओर लक्ष्मी और राधा को उसी शक्ति का प्रतिरूप समझा गया। इतना ही नहीं, स्त्रीमात्र को उस शक्ति का प्रतिरूप मान कर उसकी पूजा का विधान किया गया। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से स्त्रीमात्र में मातृ-बुद्धि करने से मानव मन में उदात्त भावनाओं की सृष्टि हो सकती थी, किन्तु उसके साथ जो पंच मकार की साधना रखी गई उसके कारण व्यवहार में वह मन की निम्नतम वृत्तियों को ही उद्बुद्ध करने में चरितार्थ हुई।

तांत्रिक मतों का उदय

तांत्रिक मत को वाममार्ग का पर्यायवाची समझना चाहिए। जिन ग्रन्थों में पार्वती शिष्य बनकर प्रश्न करती हैं और महादेव या भैरव गुरु बनकर प्रश्नों के उत्तर देते हैं, वे आगम कहलाते हैं। जिन ग्रन्थों में महादेव शिष्य बनकर प्रश्न करते हैं और पार्वती गुरु बनकर उत्तर देती है, वे निगम कहलाते हैं। शैवों के इन आगम और निगमों की संख्या सैंकड़ों में है। यद्यपि तंत्रों में शैवों के आगम और निगम दोनों शामिल किये जाते हैं, किन्तु खास-तौर से शाक्तों के धर्मग्रन्थ ही तन्त्र शब्द से अभिहित होते हैं। इस तरह शाक्त मत का अध्ययन करने से ही वाममार्ग का असली स्वरूप सामने आ सकता है। परन्तु ये तंत्र ग्रन्थ संख्या में विपुल होने पर भी अधिकांश अप्रकाशित हैं। बहुत से तंत्र ग्रन्थ नेपाल और तिब्बत में ही प्राप्य हैं। (स्व० श्री राहुल सांकृत्यायन मूल या अनूदित रूप में काफी तंत्र ग्रन्थों का तिब्बत से उद्धार करके लाए थे। वे भी अभी तक अप्रकाशित हैं और पटना म्यूजियम में सुरक्षित हैं।) इन मतों के अनुयायी अपने ग्रन्थ किसी अन्य मतावलम्बी को तो दिखाते ही नहीं, किन्तु अपने मतावलम्बी को भी तब तक नहीं दिखाते जब तक इनके गुह्य समाज के दीक्षित चक्र में शामिल होकर वह अपनी दृढ़ अनुरक्ति सिद्ध नहीं कर देता। 'गुह्यसमाज तंत्र' में तो यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई अनधिकारी व्यक्ति उस ग्रन्थ का दर्शन करले तो दर्शन करने वाला और दर्शन करवाने वाला दोनों नरक में जाते हैं। अपनी इस गुह्यता को बनाए रखने के लिए ही लोग अपने मन्दिर पर्वत-शिखरों पर या सघन वनों में बनाते हैं ताकि इनके दीक्षित-चक्र की साधना निर्विघ्न रूप से चलती रहे। कहीं-कहीं ये मन्दिर भूगर्भ में या गुफाओं में मिलते हैं। मन्दिरों में अन्धकाराच्छन्न गर्भगृहों की व्यवस्था भी कदाचित् इसी कारण की गई थी। इस प्रकार के अनाचार को देख कर कुपित होने वाले जन-सामान्य के कोप की आशंका से बचने के लिये भी ये अपने साधना-केन्द्र ऐसे स्थानों पर रखते हैं जहाँ दिन में तो अन्य लोग भले ही पहुँच जाएँ, किन्तु रात में कोई पहुँचने का साहस नहीं करता। (उदाहरण के लिए गोहाटी के कामाख्या मन्दिर और जम्मू के वैष्णवदेवी तीर्थ का नाम लिया जा सकता है।)

कुछ तंत्रो में तंत्र संख्या ६४ बताई जाती है। कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि विश्व के तीन विभिन्न भागों में ६४, ६४ तंत्र मिलते हैं। किन्तु हस्त-लिखित प्रतियों के रूप में भी उपलब्ध तंत्रों की संख्या इससे कहीं अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि तंत्रों की मूलभूमि बंगाल रही है। वहीं से असम, नेफा, नेपाल में और फिर उससे भी परे तिब्बत और चीन में बौद्ध धर्म के माध्यम से उनका प्रचार हुआ है। सामान्यतः तंत्रों की रचना शिव पार्वती के संवाद के रूप में ही हुई है। शाक्त मत की उदात्त और निम्न वृत्तियाँ आज के बंगाल में भी देखी जा सकती हैं। जिस धूम धाम से दुर्गा पूजा वहाँ मनाई जाती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। शाक्त मत का उत्कृष्ट रूप रामकृष्ण मिशन के रूप में प्रस्फुरित हुआ और निकृष्ट रूप आज भी काली के मन्दिर में बकरों की बलि चढ़ाने की परम्परा में दृष्टिगोचर होता है। अद्वैत का उपासक रामकृष्ण मिशन भी शाक्तमत की ही देन है, यह बात कदाचित् कुछ लोगों को अटपटी प्रतीत हो, परन्तु हम यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन कर रहे हैं। यद्यपि रामकृष्ण मिशन का अद्वैत इस समय शांकर अद्वैत से प्रभावित है, परन्तु रामकृष्ण परमहंस की आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत जगज्जननी के रूप में प्रतिष्ठित शाक्तों का शक्ति तत्व ही है, यह निर्विवाद है। एक दृष्टि से तांत्रिक लोग भी अद्वैत के उपासक है—इसका विवेचन हम आगे करेंगे जब वाममार्ग के दार्शनिक पक्ष पर विचार का प्रसंग आएगा।

पांच मकार

वाममार्गियों ने जिन पांच मकारों को सृष्टि का नियात्मक तत्व स्वीकार करके उनकी आराधना को चरम लक्ष्य माना है वे पांच मकार ये हैं:(१) मद्य, (२) मांस, (३) मीन, (४) मुद्रा, और (५) मैथुन। मद्य ऐसी परमौषधि मानी गई है, जो व्यक्ति को संसारिक सुख-दुख से परे पहुंचा देती है। मांस से अभिप्राय है ग्राम्य, वायव्य तथा वन्य पशुओं का मांस जिसे बल का स्रोत माना गया है। मीन अर्थात् मछली जिसे स्वादु तथा बुद्धिवर्धक और वीर्यवर्धक माना गया है। मुद्रा का अर्थ है भुना हुआ या पकाया हुआ या तला हुआ अन्न—जैसे मुरमुरे (बंगाल और बिहार में जिसे 'लाई'

कहते हैं), पूरी-कचौरी, बड़े-पकौड़ी या मिष्टान्न। हाथों से की जाने वाली विभिन्न मुद्राओं की ओर भी मुद्रा शब्द का संकेत है। ह्रीं, क्लीं, फट् आदि बीज क्षरी मंत्रों का जाप करते हुए जो तरह तरह की हस्तमुद्राएं की जाती हैं—वे इस शब्द से अभिप्रेत है। परवर्ती नृत्यशास्त्र का विकास भी मुद्रा के आधार पर ही हुआ है। आधुनिक भारत में प्रचलित कथकली और भरत-नाट्यम आदि नृत्यशैलियों में हस्तमुद्रा और मुखमुद्रा के इस विकास का अध्ययन किया जा सकता है।

मुद्रा का अर्थ

परन्तु वाममार्गियोंके विधान में मुद्रा शब्द का एक विशेष अभिप्राय भी है जो अन्य किसी शास्त्र द्वारा समझ में नहीं आ सकता। मुद्रा का अर्थ है पात्राधार या स्त्रीन्द्रिय योनि, या वह योगिनी साधिका स्त्री जिसके विना तांत्रिक साधक दीक्षितचक्र में प्रवेश नहीं पा सकता। किसी भी तांत्रिक के लिए गुरु के पास दीक्षार्थ जाने से पूर्व यह आवश्यक है कि वह अपने साथ एक साधिका को भी अवश्य ले जाए--फिर वह चाहे उसकी पत्नी हो, या कन्या हो, या अन्य कोई भी स्त्री हो। वह स्त्री ही मुद्रा है। वज्रयानी उसे वज्रकन्या या वज्रधारिणी कहते हैं। शिष्य और शिष्या के रूप में साधक और साधिका पहले गुरु की सेवा करके उसे प्रसन्न करते हैं, जब गुरु प्रसन्न हो जाता है, तब वह इन दोनों का 'अभिषेक' करता है। अभिषेक यहां पारिभाषिक शब्द है। यह अभिषेक भी कई प्रकार का होता है। सामान्यतया इस अभिषेक का अर्थ वीर्य-सिंचन समझा जा सकता है। इस अभिषेक के बाद ही शिष्य और शिष्या दीक्षितचक्र में शामिल समझे जाते हैं। (साधक साधिका की इस सदैव अनिवार्यता की झलक रवि बाबू की इस कविता-पंक्ति में भी दिखाई देती है: "न हूंगा न हूंगा मैं तापस, यदि न मिली तपस्विनी।")

मैथुन का अर्थ है भैरव और भैरवी का—शिव और पार्वती का—स्त्री और पुरुष का—संभोग, क्योंकि दीक्षितचक्र में उपस्थित सब स्त्रीपुरुष 'अहं भैरवस्त्वं भैरवी ह्यावयोरस्तु संगमः' की प्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिए ही उपस्थित होते हैं? प्रत्येक पुरुष भैरव माना जाता है और प्रत्येक स्त्री भैरवी।

इस मैथुन को जीवन के परमानन्द का स्रोत माना जाता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग को कभी 'ब्रह्मानन्द सहोदर' गया था, किन्तु तांत्रिकों ने उस उपमा के काव्यत्व को भूलकर आध्यात्मिक अनुभूति को भी विशुद्ध भौतिक धरातल पर उतार लिया और अपने कामाचार को खुली छूट देने के लिए मैथुन को ही परमानन्द की संज्ञा दे डाली। इन पंच मकारों को काली तंत्र में "एते पंच मकारा: स्यु: मोक्षदा हि युगे युगे" कह कर प्रत्येक युग में मोक्ष का परम साधन बताया गया।

चाहे कोई पुरुष हो और कोई स्त्री हो, वाममार्गी उनके समागम में दोष नहीं मानते। कुलार्णवतंत्र में तो डंके की चोट कहा गया है कि "मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु"-अर्थात् अपनी माता को छोड़कर शेष स्त्रियों से समागम किया जा सकता है। और तो और, शास्त्रों में रजस्वला आदि के स्पर्श का निषेध किया, है किंतु वाममार्गियों ने उनको भी अति पवित्र माना है। उनके एक अंड-कण्ड श्लोक में कहा गया है कि रजस्वला के साथ समागम पुष्करतीर्थ में स्नान के समान, चाण्डाली से समागम काशीयात्रा के समान, चमारी से समागम प्रयाग-स्नान के समान, रजक-दुहिता से समागम मथुरा-यात्रा के समान और कंजरी के साथ काम-क्रीड़ा अयोध्यावास के समान है। अन्य लोगों से अपनी परिभाषाओं को गुप्त रखने के लिए इन लोगों ने मद्य का नाम रखा 'तीर्थ', मांस का नाम रखा 'शुद्धि' या 'पुष्प' (मांसाहारी पंजाबियों में मांस को 'परसादा' या 'प्रसाद' कहने की प्रथा के साथ इसकी तुलना करिए), मीन का नाम रखा 'ततीया' या 'जलतुरम्बिका' (बंगाल में मछली को 'जलतुरई' कहने का आम रिवाज है), मुद्रा का नाम रखा 'चतुर्थी' और मैथुन का नाम रखा 'पंचमी'। जो लोग वामाचार को नहीं मानते उन्हें ये लोग 'कण्टक' 'विमुख' या 'शुष्कपशु' आदि शब्दों से सम्बोधित करते हैं। ये मानते हैं कि भैरवीचक्र में उपस्थित ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त लोग द्विज होते हैं और भैरवी-चक्र से अलग हो जाने पर सब अपने अपने वर्ण में पहुँच जाते हैं।

भैरवीचक्र में वाममार्गी लोग भूमि पर या लकड़ी के पट्टे पर एक बिन्दु, या त्रिकोण, या चतुष्कोण या वृत्त बनाकर उस पर शराब से भरा घड़ा रखते हैं और उसकी पूजा करते हैं। (बिन्दु या त्रिकोण के पीछे भी उनकी तथाकथित

फिलासफी है)। पूजा करते हुए वे मंत्र पढ़ते हैं—'ब्रह्मशापं विमोचय'—हे मद्य, तू ब्रह्मा के शाप से रहित हो। निर्दिष्ट गुप्त स्थान पर सब स्त्री-पुरुष इकट्ठे होते हैं, वाममार्गियों से इतर वहां कोई नहीं जा सकता। वहां एक स्त्री को नंगी करके पुरुष उसकी योनि की पूजा करते हैं और स्त्रियाँ किसी पुरुष को नंगा कर उसके शिश्न की पूजा करती हैं। पुनः एक पात्र में मद्य भरकर और थाली में मांस के वड़े रखकर आचार्य के सामने ले जाते हैं। आचार्य 'भैरवोऽहम्' "शिवोऽहम्' कह कर पात्र में से मद्य पीता है और बड़े खाता है, फिर उसी झूठे पात्र में से सब लोग बारी बारी से मद्य पीते हैं और मांस खाते हैं। जब मद्य के नशे में माता-भगिनी आदि का विवेक लुप्त हो जाता तब कोई भी पुरुष और कोई भी स्त्री परस्पर कुकर्म में लिप्त हो जाते हैं।

आधुनिक-भैरवी-चक्र

कुछ मास पूर्व ब्रिटेन में डा० वार्ड और कुमारी कीलर के जिस काण्ड की चर्चा अखबारों में हुई थी और जिस काण्ड ने एक बार तो ब्रिटिश मंत्रिमन्डल को भी डावांडोल कर दिया था, उस काण्ड का विवरण पढ़ने से वाममार्गियों के भैरवीचक्र की सही तस्वीर सामने आ सकती है: शहर से दूर लार्ड एस्टर की विशाल किलानुमा जागीर—उसमें निर्मल जल से भरा तालाब—उस तालाब में तैरती हुई नग्न सुन्दरियां और उनके साथ तैरते हुए विभिन्न मन्त्री, लार्ड और अन्य भद्र जन (जिनमें पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल अयूब खां का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है)—फिर शानदार डिनर—उसमें शराब परोसती नग्न युवतियां और युवक—फिर कीलर का नग्नावस्था में मद्य-स्नान, फिर कीलर को कपड़े पहनाने के इच्छुक व्यक्तियों की भीड़ में से किसी एक पुरुष का चुनाव—फिर जिस मद्य से कीलर ने स्नान किया उसका सबमें वितरण और उस मद्य की लूट-खसोट—और फिर सबका स्वैराचार:—यह सब आधुनिक भैरवी-चक्र नहीं तो और क्या है ?

उड्डीस तंत्र के अनुसार मद्यपान का एक आदर्श प्रयोग इस प्रकार है: घर में चारों ओर आले बने हों और हरेक आले में एक-एक बोतल शराब रखी

हो। साधक एक आले वाली बोतल पीकर फिर दूसरे आले की ओर जाए, दूसरी बोतल खाली कर तीसरे आले की ओर, फिर चौथे आले की ओर, और इस प्रकार खड़ा-खड़ा तब तक मद्य पीता रहे जब तक लकड़ी के तख्ते के के समान भूमि पर न गिर पड़े। जब नशा उतरे तो फिर उसी प्रकार पीना जारी रखे जब तक गिर न पड़े। जो इस प्रकार पीते-पीते तीसरी बार भूमि पर गिर पड़े उसका पुनर्जन्म नहीं होता – वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सच तो यह है कि ऐसे मनुष्य को दुबारा मनुष्य योनि मिलने की कोई सम्भावना नहीं, वह मलमूत्र की किसी गन्दी नाली का कुत्सित कीड़ा ही अगले जन्म में बन सकता है, मनुष्य नहीं।

भैरवी चक्र में उपस्थित ये भैरव-भैरवी कभी-कभी अधिक नशे में लड़ भी पड़ते हैं —इनमें परस्पर लतियाव, जूतमपैजार, केशाकेशी और मुक्का-मुक्की और धर-पटक हो जाती है। किसी-किसी को वहीं कै भी हो जाती है। उनमें जो सबसे बड़ा सिद्ध माना जाता है, वह प्रायः पहुँचा हुआ अघोरी होता है और वह कै को भी खा जाता है। उसे विष्ठ-भक्षण और मूत्रपान तक से परहेज नहीं होता। इनमें सन्त शिरोमणि, सदाशिव और सबसे बड़ा जो सिद्ध माना जाता है उसका लक्षण यों किया गया है: "हालां पिबति दीक्षितस्य मन्दिरे सुप्तो निशायां गणिकागृहेषु। विराजते कौलव चक्रवर्ती।" इनकी परिभाषा में 'कौल' शब्द का अर्थ है सन्त—उसी को ये कुलीन और अच्छे कुल में पैदा हुआ मानते है जो उनके वाममार्ग से दीक्षित होकर सिद्धावस्था तक पहुँच जाए। उन कौलों में चक्रवर्ती अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है वह व्यक्ति जो लोक लज्जा, शास्त्र-लज्जा और कुल लज्जा को तिलांजलि देकर कलार के घर जाकर खूब शराब पीवे, वारांगनाओं के यहाँ जाकर निश्शंक होकर कुकर्म करे और रातभर वहीं सोवे। अर्थात् उनके यहाँ जो जितना कुकर्मी हो वहाँ वह उतना ही सिद्ध माना जाता है।

ऐतिहासिक पक्ष

भारतीय इतिहास में महात्मा बुद्ध का काल ऐसा सुनिश्चित है कि उसके बारे में आज तक कभी किसी विद्वान् ने विप्रतिपत्ति उपस्थित नहीं की। महात्मा बुद्ध का जन्म ५३५ ई० पू० में और उनकी मृत्यु ४८५

ई० पू० में हुई। जब तक महात्मा बुद्ध जीवित रहे, तब तक शास्ता के स्वयं विद्यमान रहने के कारण जब किसी विषय में शंका होती तो शिष्य गण शास्ता की सेवा में उपस्थित होकर उन शंकाओं का निवारण कर लेते। परन्तु बुद्ध के उपदेश कभी भी लिखे नहीं गए, इसलिए उनके महापरिनिर्वाण के पश्चात् बुद्ध के मन्तव्यों के विषय में सन्देह पैदा होने लगे। सन्देह से विवाद बढ़ा और उस विवाद के उपशमन के लिए उनके शिष्यों ने समय-समय पर पांच संगीतियाँ (गायन, संरक्षण, उद्धरण और आवृत्ति की सभाएँ) आयोजित कीं। प्रथम संगीति में तो केवल बुद्ध के वचनों का ही संग्रह किया गया। किन्तु बाद में नवीन विचार तथा मतभेद पैदा हुए और वे मतभेद संगीतियों में भी वादविवाद के रूप में उभर कर सामने आने लगे। पीछे तो यह परम्परा बन गई कि कोई भी विचार बौद्ध समाज में तब तक मान्यता प्राप्त नहीं करता था जब तक वह किसी संगीति में मान्य न हो जाए। प्रथम संगीति बुद्ध के अवसान के कुछ सप्ताह पश्चात् ही बुलानी पड़ी, जिसमें ५०० शिष्य उपस्थित हुए। फिर जब विनय और नैतिक नियमों का खुल्लम खुल्ला विरोध प्रारम्भ हो गया तब सौ वर्ष के अन्दर-अन्दर दूसरी संगीति बुलानी पड़ी जिसमें दस सहस्र भिक्षु सम्मिलित हुए। इसी समय बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया-एक महासांधिक और दूसरा स्थविरवादी। बुद्ध के उपदेशों में जो किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरोधी थे वे स्थविरवादी और जो परिवर्तन के पक्षपाती थे वे अधिक संख्या में होने कारण महासांधिक कहलाए। यही अपरिवर्तनवादी आगे जाकर हीनयान और परिवर्तनवादी महायान में रूपान्तरित हो गए। हीनयान आडम्बर के विरुद्ध था और धर्म की शुद्धता का पक्षपाती था, परन्तु महायान आडम्बर और समयानुसार परिवर्तन का पक्षपाती था। दोनों शब्दों के अर्थ से ही यह बात ध्वनित होती है—हीनयान अर्थात् छोटी सवारी अर्थात् निराडम्बर उपासना; महायान अर्थात् बड़ी सवारी अर्थात् विपुल आडम्बर के साथ शोभायात्रा निकालना, बड़े-बड़े मन्दिर और विशाल विहार तथा चैत्य बनवाना। बौद्धों का महायान ही मन्दिर और मूर्ति-प्रधान पौराणिक हिन्दूधर्म का पूर्व रूप है।

मूर्ति पूजा का श्री गणेश

बुद्ध की सबसे पहली मूर्ति कदाचित्- यूनानियों के सम्पर्क से गान्धार देश के लोगों ने बनाई थी। आज भी बुद्ध की प्राचीनतम मूर्तियां अफगानिस्तान और ईरान में ही पाई जाती हैं। अफगानों और ईरानियों ने बुद्ध को अपनी भाषा में 'बुत' कहा। यही बुत शब्द मूर्ति का पर्यायवाची है। बौद्धों की देखादेखी पीछे हिन्दुओं ने भी अपने अवतारों की कल्पना करके उनकी मूर्तियां और मन्दिर बनाने प्रारम्भ कर दिए। इस काल के पूर्व कहीं भी मन्दिर या मूर्ति का वर्णन नहीं मिलता। यह ईसवी सन् के आरम्भ की ओर कनिष्क के कालकी बात है। कुषाण-सम्राट् कनिष्क बौद्धराजा था जिसका आधिपत्य ईरान और अफगानिस्तान तक फैला हुआ था।

तीसरी संगीति अशोक के समय २५१ ई० पू० में पाटलिपुत्र में बुलाई गई थी। सारनाथ और सांची की स्तम्भलिपियों से ज्ञातहोता है कि अनाचार-परायण भिक्षुओं को अशोक ने श्वेत वस्त्र पहनाकर निकाल देने का आदेश दिया था। ये सब हीनयान-विरोधी थे। इन निष्कासित भिक्षुओं ने राजगृह और नालन्दा के पास ही अपना अड्डा जमाया और बाद में नालन्दा विश्वविद्यालय इनका प्रमुख केन्द्र बना। पहले महासांधिक, फिर महायानी और उसके बाद वज्रयानी ये सब बौद्ध धर्म के अवांछनीय लोग थे, परन्तु इनकी संख्या अनल्प थी और वर्चस्व प्रचुर, इसलिए धीरे-धीरे ये ही बौद्ध धर्म का प्रतिनिधित्व करने लगे और नालन्दा विश्वविद्यालयके माध्यम से उन्होंने अपने मतको दृढ़ दार्शनिक भित्ति प्रदान कर अपने विद्वानों द्वारा अपने मत का प्रचार किया। तिब्बत में बौद्ध धर्म के महायानी और वज्रयानी रूप का प्रचार करने वाले दीपंकर श्रीज्ञान और स्मृतिज्ञान कीर्ति इसी विश्वविद्यालय के आचार्य थे। दीपंकर श्रीज्ञान को ही तिब्बती लोग 'अतिशा' के नाम से पूजते हैं।

ईसवी सन् के आरम्भ में, कनिष्क के समय तक (७८ ई०) आते आते महायान धर्म ने कला में बुद्ध के चरण, बोधिवृक्ष, रिक्त आसन और छत्र आदि के स्थान पर इनकी मूर्तियों को प्रश्रय दिया। महायान का पूर्ण प्रकाशित रूप कनिष्क के समय ही सामने आया और उसके लगभग ५०० वर्ष बाद तो

वह पूर्ण प्रतिष्ठित हो गया। धीरे धीरे महायान की लोकप्रियता का असर हीनयान पर भी पड़ने लगा और वह भी उससे विना प्रभावित हुए नहीं रह सका। हीनयान के अधिकांश ग्रन्थ पालि में हैं और महामान के ग्रन्थ मिश्र-संस्कृत में या शुद्ध संस्कृत में। महायान का मान्य ग्रन्थ है 'ललित विस्तर'। इस ग्रन्थ के नाम से ही प्रकट है कि इसमें 'बुद्ध की लीला का ललित और सविस्तर वर्णन' है। बुद्ध के जीवन को अलौकिक व्यक्ति की लीला के रूप में चित्रित किया गया है और बुद्ध के मुख को प्रभा मंडल से आलोकित बताया गया है। बाद में बुद्ध का यह अलौकिकत्व और मुख के चारों ओर का प्रभामंडल पौराणिक अवतारों में ज्यों का त्यों उतर आया। महायान के ग्रन्थों में कहा गया था कि जो लोग बुद्धमूर्ति या किसी प्रकार के स्तूप का निर्माण करते हैं, भित्तिचित्र खींचते हैं (जैसे अजन्ता और एलोरा में), स्तूपों पर पुष्पार्पण या सुगन्धि अर्पण करते हैं या उसके सामने गायन वादन करते हैं, या बुद्ध के प्रति अचानक भी आदर की भावना व्यक्त करते हैं, यहां तक कि जो बालक अनजाने या क्रीड़ा में भी बुद्ध के अंगों का आकार दीवार पर खींचते हैं, वे सब बोधि तक पहुंच जाते हैं। महायान की यह विचारधारा ही पौराणिक हिन्दू धर्म में भक्तिमार्ग की जननी है। महायानियों के साहित्य में जिस लोक में अभिताभ प्रतिष्ठित हैं उसे 'सुखावती व्यूह' नाम दिया गया है। इसी सुखावती व्यूह लोक के आधार पर पुराणों और तन्त्रों में स्वर्ग और नरक की कल्पना अधिक प्रगल्भ रूप में सामने आई हैं।

महायान पर भी हिन्दू साहित्य, धर्म, दर्शन और साधना का कम प्रभाव नहीं पड़ा। इसी कारण कुछ लोग महायान को हिन्दू बौद्ध धर्म या हिन्दूधर्म को बौद्ध महायान का रूपान्तर कहते हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि महायान का मूल स्रोत श्रीमद्भगवद् गीता ही है। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि हिंदू धर्म और बौद्धधर्म के परस्पर सम्मिश्रण के बाद ईसा की पहली सहस्राब्दी में जो भावधारा भारतीय जनमानस में बह रही थी वह इसी प्रकार की थी। बाद में जब औपनिषदिक और पातंजल योग की सहायक नदियां भी इस धारा में मिल गईं तब रहस्यात्मक साधनापद्धति का प्रचार हुआ। इसी रहस्यात्मक योगपद्धति ने आगे जाकर तांत्रिक शैव और शक्तिसाधना के प्रारम्भिक रूप का काम किया।

'परावृत्ति' शब्द का अर्थ

इसी महायन से बौद्धों के दो और परवर्ती सम्प्रदाय निकले जिनमें एक था वज्रयान और दूसरा सहजयान। तांत्रिक महायान धर्म का आदिप्रवर्तक कौन था, इस विषय में विवाद है। परन्तु महायान के 'सूत्रालंकार' ग्रन्थ में बुद्धत्व अर्थात् निर्वाण अर्थात् विश्व और विचार की एकात्मता (अद्वैत) अर्थात् तथता (बुद्ध को तथता प्राप्त करने के कारण ही 'तथागत' कहा जाता है) की प्राप्ति के लिए जो पाँच प्रकारकी परावृत्तियाँ बताई गई हैं (पंञ्चेन्द्रिय परावृत्ति, मानस सर्थोद्ग्रह परावृत्ति, विकल्प परावृत्ति, प्रतिष्ठा परावृत्ति और मैथुन परावृत्ति) उनमें 'परावृत्ति' शब्द के अर्थ पर भारी विवाद है। फ्राँस के प्रसिद्ध प्राच्यशास्त्री प्रो० एस० सिल्वाँ लेवी ने 'मैथुन परावृत्ति' का अर्थ किया है: 'केन्द्र के चतुर्दिक् परिभ्रमण' (Rvolution)। इस शब्द का सम्बन्ध बुद्धों और बोधिसत्त्वों के साधनात्मक रहस्यमय युग्मों से जोड़ा गया है। जापान के प्रसिद्ध विद्वान् डा० सुजुकि ने मैथुन परावृत्ति शब्द का अर्थ किया है: 'आत्मा की आकस्मिक जागृति या उत्पाद'। जर्मनी के विद्वान् प्राच्य-शास्त्री डा० विंटरनित्ज ने इसका सामान्य अर्थ किया है: 'मैथुन से विरति या विरोध' और विशेष अर्थ किया है: 'संसार सम्बन्धी सामान्य विचारणा से अलग रहने की वृत्ति।' परन्तु डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने इसका "मैथुन से विराग' अर्थ न लेकर अर्थ किया है 'मैथुन जनित आनन्द के समान सुख का उपभोग।' यह औपम्य विधान औपनिषदिक साहित्य के 'ब्रह्मानन्द सहोदर' शब्द के समकक्ष जा पड़ता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि परावृत्ति चित्त की वृत्तियों वा वह परिवर्तन है जिसमें साधक संसार के प्रति अपने सामान्य दृष्टिकोण को बदल देता है। पदार्थों को सस्व-भाव और संसार को माया मानना सामान्य दृष्टि है। इस सामान्य दृष्टि और व्यवहार से उलट कर पुनः चित्त के नैसर्गिक विन्दु की ओर चित्त का आवर्तन ही परावृत्ति है। इसी परावृत्ति शब्द के कारण महायान में मैथुन और शक्ति-तत्त्व का प्रादुर्भाव समझा जाता है।

बौद्ध धर्म में तांत्रिकता का समावेश करने वाला आचार्य असंग था या नागार्जुन, यह विवादास्पद है, किन्तु यह निश्चित है कि छठी शताब्दी तक

मंत्र, यंत्र, कुंडलिनी, मंडल, शक्तितत्त्व और पञ्चमकार आदि तांत्रिक बात महायान में सम्मिलित हो चुकी थीं और सातवीं शताब्दी तक व्रजयान के रूप में बाकायदा प्रतिष्ठित हो चुकी थीं।

महायान का काल ईसवी सन् के प्रारम्भ से छठी शताब्दी तक रहा और उसके बाद ७ वीं से १० वीं शताब्दी तक गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में गुप्त रूप से वज्रयान प्रचलित रहा। उसके बाद बारहवीं शताब्दी तक सहजयान का बोलबाला रहा। छठी शताब्दी के बाद ही ८४ सिद्धों का समय आता है जिन्होंने अपने उपदेशों और रहस्यगीतों से तथा अपने शिष्यों की परम्परा द्वारा सहजिया मत का प्रचार किया। सिद्धों का समय ८वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक माना जाता है। कुछ विद्वानों ने आदि सिद्ध सरहपाद (या सरहपा) को वज्रयानी साधना का आद्य आचार्य माना है।

८४ सिद्धों का युग

इन सिद्धों के नामों के अन्त में प्राय: पाद या नाथ शब्द जुड़ा होता है। बौद्ध तांत्रिकों से ही धीरे-धीरे नाथ सम्प्रदाय का जन्म हुआ। नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध हिन्दू हैं और शेष सिद्ध प्राय: बौद्ध। इन ८४ सिद्धों में से कितने बौद्ध थे और कितने हिन्दू, यह निर्णय करना भी कठिन है। परन्तु भारतीय इतिहास में एक युग ऐसा रहा है (८वीं से १२वीं शताब्दी तक) जब इन सिद्धों का ही बोल-बाला था और धार्मिक क्षेत्र में इन्हीं की मान्यता थी। इन सिद्धों में यद्यपि कोई-कोई ब्राह्मण और क्षत्रिय भी थे। किन्तु अधिकांश लोग नीच वर्णों के थे और शिक्षित भी बहुत कम थे। वज्र-यानियों तक के ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये हैं, किन्तु इन सहजयानी सिद्धों के ग्रंथ लोक-भाषा में लिखे गये हैं। लोक-भाषा का आश्रय लेने के कारण ही जन-सामान्य में इनके मत का प्रचार भी अधिक हुआ। समाज में इन सिद्धों की मान्यता का जहाँ तक प्रश्न है वह इसी से सिद्ध है कि अमर-कोष में इन्हें देवयोनि कहा गया है। सिद्धों का एक पर्यायवाची 'गुह्यक' भी है जो उनकी तंत्र साधना की गुह्यता का द्योतक है। महाकवि कालिदास के मेघदूत में सिद्धांगनाओं और सिद्धवधुओं का भी, किन्नरियों के साथ वर्णन आया है।

इन सिद्धों में सरहपा, लुईपा, कान्तपा, दारिपा, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्र-नाथ, नागार्जुन और कृष्णमूर्ति आदि प्रसिद्ध हैं। सिद्धों ने वज्रयान द्वारा प्रतिपादित साधना को भी कठोर बता कर सहज साधना का प्रचार किया। ये ८४ सिद्ध ही वाममार्ग के असली आचार्य हैं। इनका कहना था कि वेदादि शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म का निर्वाह करना कठिन तो है ही, साथ ही कलियुग के लिए वह वर्जित भी है, इसलिए पाप-प्रधान कलियुग में मोक्षप्राप्ति का उपाय केवल सहज सुख की प्राप्ति ही है।

इन ८४ सिद्धों की संख्या ८४ ही क्यों है, इसका भी निश्चित उत्तर नहीं है। अनेक विद्वानों ने सिद्धों कीजो नाम-सूची दी है वह जहाँ नामों की दृष्टि से भिन्न है वहां सख्या की दृष्टि से भी भिन्न है। परन्तु किसी भी सूची के अनुसार इनकी संख्या ८४ नहीं बनती। ८४ संख्या का अभिप्राय काम-शास्त्र के ८४ आसनों से है या ८४ लाख योनियों से, यह कहना भी कठिन है। विद्वानों का अन्तिम निष्कर्ष यही है कि १०८ की तरह (माला में १०८ मनके होते हैं।) यह ८४ संख्या भी रहस्य संख्या (Mystic Number) है।

सिद्धों की भाषा

इनमें से कई सिद्धों की रचनाओं का अनुवाद वापिस संस्कृत में भी हुआ है। ये सिद्ध जिस प्रकार अपने आचार-व्यवहार में ऊटपटांग थे वैसे ही इनकी भाषा भी अटपटी थी, केवल शब्दों की दृष्टि से ही नहीं बल्कि अर्थ की दृष्टि से भी। गोपनीयता रखने के लिए ही उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसका अर्थ बहुत बार तो केवल उसकी संस्कृत-टीका से ही समझ में आ सकता है, मूल अपभ्रंश भाषा से नहीं। बाद में कबीर की वाणी में जो 'बरसे कम्बल भीगे पानी' के ढंग की उलट बाँसियाँ आई हैं, उनका मूल भी सिद्धों की भाषा ही है। कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित-आलोक-निरालोक-सी इनकी भाषा को 'संध्या भाषा' का नाम दिया गया है। परन्तु डा० विधुशेखर महाचार्य ने अनेक युक्ति प्रमाणों से सिद्ध करके लिखा है कि उनकी भाषा का नाम 'संध्या भाषा' नहीं, किन्तु 'संधा-भाषा' है। 'संधा' शब्द का अर्थ उन्होंने किया है—'अभिसंधाय' अर्थात् 'अभिप्रेत्य' अर्थात्-जानबूझकर किसी खास मतलब से वैसी भाषा रखी गई है, जिनसे

जानकर लोग उसका अर्थ समझ सकें, गैर जानकार नहीं। इन सिद्धों की भाषा ही आधुनिक समय में प्रचलित विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की जननी हैं, इसीलिए उनकी भाषा का यहाँ उल्लेख किया गया है। भारत की अधिकांश आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं (तमिल को छोड़कर) के इतिहास का पर्यालोचन करते हुए सिद्धों की भाषा का अध्ययन अनुपेक्षणीय है। पहले बुद्ध ने संस्कृत का तिरस्कार कर तात्कालिक लोक भाषा पालि (जिसे कदाचित् ग्राम्य भाषा होने के कारण ही पालि नाम दिया गया। पल्ली-गाँव) को प्रश्रय दिया था, किन्तु बाद में उसके अनुयायियों ने पालि की उपेक्षा करके पुनः संस्कृत का आश्रय लिया। इसीलिए महायानियों या वज्रयानियों के ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए। किन्तु सहजयानी सिद्धों ने पुनः बुद्ध की प्रवृत्ति को अपनाया और उस समय की अपभ्रंश भाषाओं में ग्रन्थ भी लिखे प्रचार भी किया, तभी वे लोकप्रिय भी हुए।

हठयोग प्रदीपिका यद्यपि संस्कृत में लिखा ग्रन्थ है, किन्तु सिद्ध-युग का है। उस समय की प्रचलित धर्मपद्धति का आभास पाने के लिये हठयोग प्रदीपिका का निम्न श्लोक देखिए:—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातका:॥

"कुलीन (जिसे पहले हमने 'कौल' कहा है) मैं उसे मानता हूँ जो रोज गोमांस खाये और अमरवारुणी पिये, अन्य लोग तो कुल घातक हैं।" गनीमत है कि फिर अगले श्लोक में ही उसकी यों व्याख्या कर दी गई है :—

गो शब्देनोदीपिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥

"गो का अर्थ है जिह्वा, उस जिह्वा को उलटा कर तालु में प्रविष्ट करना (हठयोग की एक क्रिया) ही गो मांस का भक्षण है जो बड़े से बड़े पाप का नाश करने वाला है।" गोमांस भक्षण का यह यौगिक अर्थ तो पता नहीं किसी ने लिया या नहीं लिया, किन्तु इससे कितनों ने गोमांसभक्षण के समर्थन में प्रेरणा पाई, यह कल्पना सहज ही की जा सकती है।

दार्शनिक पक्ष

हिन्दू (वैदिक) धर्म के प्रति बौद्धों की आम धारणा क्या थी, यह इस उक्ति (सम्भवतः आचार्य धर्म कीर्ति की यह उक्ति है) से पता चल जायगा :

वेद प्रामाण्यं कस्यचित्कर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः ।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति
ध्वस्तप्रज्ञानां पच्चलिङ्गानि जाड्ये ।।

"अक्लमारों की पांच निशानियाँ हैः वेद को प्रमाण मानना, इस सृष्टि के कर्ता के रूप में किसी ईश्वर को मानना, स्नान करने में धर्म समझना, उच्च वर्ण का अभिमान करना, और पाप नष्ट करने क लिये तपस्य करना ।" अर्थात् वेद तथा ईश्वर के प्रति जन-सामान्य की आस्था को विचलित वे कर ही चुके थे। फिर समाज में आई रिक्तता को भरने के लिये बुद्ध की मूर्ति और नाना बोधितत्त्वों की उपासना के रूप में जो आडम्बरवाद उन्होंने चलाया वह हिन्दू धर्म में भी नाना देवी देवताओं के रूप में ज्यों का त्यों उतर आया। फिर मानव की बौद्धिक तृप्ति के लिये जो दार्शनिक आधार तैयार किया गया उसमें मंत्र तंत्र और योग की चामत्कारिक सिद्धियों का ही प्रमुख स्थान रहा। हमने ऊपर लिखा है कि वज्रयान और सहजयान का ही रूपान्तर वाममार्ग है। परन्तु तांत्रिक साधना की दृष्टि से जो आध्यात्मिकता का आवरण उन लोगों ने अपने क्रियाकलाप पर चढ़ाया है, वह योगदर्शन से ही प्रसूत प्रतीत होता है। योगदर्शन में यदि अष्टांग योग का विधान है तो बौद्ध तांत्रिक साहित्य में षडंग योग का वर्णन है।

बिन्दु की सिद्धि

तांत्रिक साधना का मुख्य लक्ष्य है बिन्दु सिद्धि । बौद्धतांत्रिक परिभाषा में बिन्दु ही बोधिचित्त नाम से प्रसिद्ध है। जैसे मनोमय कोश का सारांश मन है ! और प्राणमय कोष का सारांश प्राण, वैसे ही अन्नमय कोश का सारांश शुक्र धातु या वीर्य है। अज्ञानी जीव के मन-प्राण-शुक्र ये तीनों ही

चंचल होते हैं तथा मलिन होते हैं। बिन्दु शब्द से इन तीनों का ही अभिप्राय है। गुरु की कृपा से और अभिषेक-क्रिया से इन तीनों की शुद्धि होती है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम में विन्दु साधना का स्थान ही सर्वोच्च है। प्रथम आश्रम में बिन्दु प्रतिष्ठा होती है, उस समय विन्दु क्षोभ निषिद्ध है। अशुद्ध बिन्दु क्षुब्ध होने पर प्राकृतिक नियम से अधोगति की ओर उन्मुख होता है। यही उसकी च्युति या पतन है, जिसका फल है मृत्यु। यदि इस बिन्दु को कोई ऊर्ध्वगामी कर सके तो वह अमरत्व लाभ कर सकता है। (मरणं बिन्दु पातेन जीवन बिन्दु धारणात्।) ऊर्ध्वरेता की अवस्था प्राप्त करने के लिए विन्दु का ऊर्ध्वगामित्व आवश्यक है। ऊर्ध्वरेता बन जाने पर मनुष्य का अन्तः स्रोत सदैव ऊर्ध्वगामी रहता है। यही दिव्य अवस्था है।

इसके अलावा योग दर्शन की तरह शरीर को आठचक्रों में विभाजित किया गया है। इन आठचक्रों में सबसे नीचे है मूलाधार चक्र। इसी मूलाधार चक्र में निहित बिन्दु को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए मेरुदण्ड के नीचे मूलाधार के पास ही अवस्थित कुण्डलिनी को जागृत करना होता है। गुरु कृपा से इस कुण्डलिनी के जागृत होने पर जब ब्रह्मरन्ध्रचक्र में कुण्डलिनी और विन्दु का मेल होता है, तब मनुष्य ऊर्ध्वरेता की अवस्था तक पहुँच जाता है। ब्रह्मरन्ध्र चक्र ही उष्णीष चक्र या सहस्रदल कमल है। विन्दु को उद्बुद्ध कर कुण्डलिनी के सहयोग से वहाँ तक पहुँचाना ही सिद्धि का चरम लक्ष्य है। ऊर्ध्वरेता बन जाने पर साधक का विन्दु अधोगामी न रहने के कारण सन्तति-प्रजनन नहीं करता, अर्थात् जन्म मरण का चक्कर छूट गया—यही मोक्ष है। उष्णीष कमल में कुडंलिनी और बिन्दु के समागम से अमृत का झरना झरने लगता है—वही अमरता या सदाशिवत्व है।

शिव, शक्ति, त्रिशूल

तांत्रिकों की परिभाषा में बोधित्व अपने निर्वाण के पश्चात् इस अवस्था में जब पहुँचते हैं तब सदा प्रज्ञापारमिता के संग आलिंगित रहते हैं। प्रज्ञापारमिता हा तारा है—अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में पहुँची हुई कुडंलिनी। इसी कुण्डलिनी को उमा या पार्वती कहा गया। बौद्धों ने इस कुण्डलिनी को प्रज्ञा नाम दिया, शैवों ने पार्वती, वैष्णवों ने राधा, और वाममार्गियों ने ललना, रसना अवधूती या चाण्डाली। ब्रह्मरन्ध्र में कुडंलिनी और बिन्दु का समागम ही

बौद्धों की दृष्टि में तथागतत्व—असली बुद्धत्व, शैवों की दृष्टि में सदाशिवत्व, वैष्णवों की दृष्टि में आनन्दकन्दत्व और वाममार्गियों की दृष्टि में सिद्धत्व है। बौद्धों के अनुसार प्रज्ञा ही शक्ति है। इसी प्रज्ञा को कुडंलिनी या इड़ा पिंगला कहा गया है। ब्रह्मरन्ध्र में प्रज्ञा और उपाय (करुणाप्रेरित, बुद्धत्व की ओर अग्रसर बोधिचित्त) दोनों का एकत्र अवस्थान ही निर्वाण या अद्वय है। 'अद्वय-वज्र संग्रह' में लिखा है—'शिवशक्ति समायोगात् जायते चाद्भुतं सुखम्' शिव और शक्ति के समागम से अद्भुत सुख होता है शक्तिका प्रतीक है त्रिकोण या त्रिशूल। त्रिशूलधारी साधु आज भी चाहे जहां देखे जा सकते हैं। कुछ तांत्रिकों ने ओ३म् को भी त्रिशूल का ही रूप सिद्ध किया है। इस त्रिकोण की विस्तृत व्याख्या है। इसी त्रिकोण को, जो प्रज्ञा या शक्ति का दूसरा नाम है, 'हेवज्रतंत्र' में भग भी कहा गया है। इस भग को महासुख का आवास माना गया है। यही वज्रालय या वज्रासन भी कहा जाता है। इसको सिंहासन बना कर जो आसीन होते हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है।

वज्रयानियों ने बोधिचित्त को वज्रसत्त्व नाम दिया है। उनके निर्वाणा-वस्थापन्न वज्रसत्त्व की एक मूर्ति तिब्बत में मिलती है जो तिब्बती भाषा में 'याब्-युम्' यायुगनद्ध मूर्ति कहलाती है। यह युगनद्ध ही, जिसमें अवलोकितेश्वर और प्रज्ञापारमिता तारा वज्रासनस्थ और परस्पर दृढ़ालिंगित अवस्था में दिखाए गए हैं, वज्रयानियों का चरम आराध्य है। शैवों की अर्धनारीश्वर की कल्पना और वैष्णवों के लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण या सीता-राम के युग्मों की कल्पना का मूल यही युगनद्ध है। वज्रयानियों का अद्वैत भी यही है।

वज्र शब्द के अनेक अर्थ हैं? तिब्बती भाषा में वज्र का पर्यायवाची शब्द है 'दोर्जे'। जो आजकल दार्जीलिंग के नाम से विख्यात पर्वतीय स्थान है उसका असली नाम है 'दोर्जेलिङ्'। ऐसा प्रतीत होता है कि वह वज्रयानियों का स्थान रहा है। भूतान में 'भूत' शब्द भी इसी वज्र का पर्यायवाची है। वज्र का अर्थ है कठोर, हीरा या मणि, चमकीली बिजली। यह भी शून्य का प्रतीक है। बौद्धों का विश्वास है कि बुद्ध ने इन्द्र से वज्र छीन कर इसे बौद्ध-धर्म का प्रतीक बना लिया। बुद्ध इसीलिए वज्रपाणि कहलाए। वज्र के तीन शूल हैं: बुद्ध, धर्म और संघ जो बौद्धधर्म में 'त्रिरत्न' कहलाते हैं।

परन्तु वज्रयानियों की परिभाषा में इसका एक और अर्थ भी है। 'ज्ञान-सिद्धि' नामक ग्रन्थ में लिखा है:

शुक्रं वैरोचनं ख्यातं वज्रोदकं तथा परम्।

स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा ॥

—अर्थात् वज्र का अर्थ पुंसेन्द्रिय और पद्म का अर्थ है स्त्रीन्द्रिय। बाद में भारतीय संस्कृति में कमल के महत्त्व का उद्गम यही प्रतीत होता है। खजुराहो आदि मन्दिरों में अश्लील मूर्तियाँ वज्र और पद्म के मेल के ही द्योतक हैं। वज्र और पद्म का मेल ही युगनद्ध है। वज्रयानियों का जो सबसे बड़ा मंत्र है: "ओं मणिपद्मे हुँ"— वह भी मणि (वज्र) और पद्म के मेल—युगनद्ध की उपासना का चरम साधन माना गया है। वाममार्ग युगनद्ध का ही उपासक है—वह उसे 'शिवशक्ति समागम' कहता है।

वाममार्ग के ग्रन्थों के ध्यान में सम्बन्ध में उपदेश इस प्रकार किया गया है: "भक्त को चाहिए कि वह अपना सर्वस्व देवी को अर्पण करने के लिए पहले भावना द्वारा अपने हृदय-कमल को देवी का सिंहासन बना ले, फिर हृदय-कमल से टपकने वाले अमृत से देवी के चरणों का प्रक्षालन करे, फिर इन्द्रियों और विचारों की चंचलता को नृत्यवत् प्रस्तुत कर दे। फिर स्वार्थ-शून्यता और वासना-शून्यता के पुष्प उपहार में चढ़ाए। फिर वह सुरा का समुद्र, मांस और भुनी मछलियों का पहाड़, भात-दूध-चीनी और घी का ढेर देवी के सम्मुख धर दे। फिर त्रिपुण्ड्र के अमृत में देवी को स्नान कराए।" इस सब ध्यान की प्रक्रिया से भक्तों में आध्यात्मिक भावना के बजाय इन्द्रियों को उन्मादित करने वाली वृत्ति ही अधिक जाग्रत होती होगी, इसमें सन्देह नहीं। फिर जब घण्टे-घडियाल बजते हैं, धूप जलती है, फूल महकते हैं, दीपक टिमटिमा कर कुछ प्रकाश और कुछ अप्रकाश का आलम पैदा कर देते हैं और मलाएं लहराने लगती हैं, तब साधिकाओं के जमघट को देखकर साधक भी उद्दाम वासना के सागर में लहराने लगें तो क्या आश्चर्य ! फिर तो सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व किसी ज्ञानी के मन के किसी निभृत कोने में भले ही झांकता रहे, किन्तु जनसाधारण को तो वाममार्ग की ओर ही जाने की प्रेरणा मिलती है।

आधुनिक भाषा में कहना हो तो वाममार्ग को विशुद्ध शिश्नोदरवाद या यौनवाद का मार्ग कहा जा सकता है। इस विषय में वामपन्थी (कम्युनिस्ट) भी ऐतिहासिक वाममार्ग के भूले बिखरे अवशेष ही प्रतीत होते हैं परन्तु ऋग्वेद में लिखा है—"या शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः" (ऋक् ७।२१ ५) शिश्न को देव मानने वाले कभी सत्य को नहीं पा सकते।

शांकर-मत समीक्षा

आचार्य श्री उदयवीर शास्त्री

o o o

शंकराचार्य ने अपने वेदान्त द्वारा जिस भ्रम की सृष्टि की, उसने बौद्धों के पैर भले ही उखाड़ दिए हों किन्तु सत्य वैदिक धर्म के स्वरूप को विकृत रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत कर सत्य को भुलाने का प्रयास किया। प्रस्तुत लेख में दर्शनों के प्रकांड पंडित लेखक ने शंकर के असत्य मत की आलोचना कर 'सत्य' स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। —सम्पादक

o o o

ऋषि ने 'सत्यार्थप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करने और अमन्तव्यों की विवेचना व समीक्षा के लिए की, जिससे सत्य अर्थों-सिद्धान्तों का प्रकाश यथार्थरूप में हो सके, और जिसके अनुसार अनुष्ठान कर प्रत्येक मानव अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए अनायास प्रयासशील हो सके। इस भावना से ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दस समुल्लासों में अपने मन्तव्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, और अन्तिम चार समुल्लासों में अमन्तव्य मतों व विचारों की समीक्षा प्रस्तुत की है। ऐसी समीक्षा सच्चे सिद्धान्तों पर लपेटे हुए मलिन आवरणों को हटाकर उन्हें सामने प्रकाश में लाकर खड़ा कर देती है। ऐसी विवेचना की उपादेयता का सदा से लोककर्त्ता आचार्यों ने अभिनन्दन किया है।

सत्यार्थप्रकाश के इस समीक्षा भाग के पहले एवं ग्रन्थक्रम के अनुसार ग्यारहवें समुल्लास में उन विचारों व मतों की विवेचना प्रस्तुत की गई है, जिनमें भारतीय आर्यजनता के मूलभूत वैदिक सिद्धान्तों को रूपान्तरित कर दिया गया है, पर उन्हीं को आज मूलभूत सिद्धान्तों के रूप में माना जा रहा है। मूल सिद्धान्तों में यह विकार सहस्रों वर्षों से धीरे-धीरे होता रहा, और अनजाने में उसका इतना सात्म्य होगया, कि वास्तविकता को सर्वथा भुला दिया गया, अथवा समाज की दृष्टि से उसे सर्वथा ओझल कर दिया गया। ऋषि ने अपनी समाधिजन्य क्रान्त दृष्टि से काल की सीमा को भेदकर यथार्थता का अवलोकन किया, और लोक कल्याण की भावना से जन-मानस तक उसे पहुँचाने के लिए 'सत्यार्थ प्रकाश' के रूप में रचनाबद्ध किया। इस प्रकार एकादश समुल्लास में उन सभी मतों का विवेचन है, जो हिन्दु मत अथवा पौराणिक मत के नाम से कहे जाते हैं।

इन्हीं के बीच उन विचारों की भी समीक्षा है, जिनको आचार्य शंकर ने प्रचारित किया, और दार्शनिक रूप देकर उनकी दृढ़ता को उपस्थापित किया है। यह प्रसंग एकादश समुल्लास में सत्यार्थप्रकाश [स्थूलाक्षर, स्वामी वेदानन्द तीर्थ संस्करण] के पृष्ठ २४६ से २६० तक में विस्तृत है। इस समस्त प्रसंग को साधारण रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—१—आचार्य शंकर का व्यक्तित्व, २—आचार्य शंकर का मत और उसकी समीक्षा। सत्यार्थप्रकाश के वर्णन के अनुसार यथाक्रम इन शीर्षकों के नीचे उक्त विषय का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

आचार्य शंकर और उसका व्यक्तित्व

इस विषय को लेकर सत्यार्थप्रकाश में जो वर्णन किया गया है, उसको भी दो भागों में बाँटा जा सकता है-१-शंकर का प्रादुर्भाव काल, और २-शंकर के विचारों की पृष्ठभूमि। पहला विषय अत्यन्त विवादास्पद है। इस विषय में आधुनिक विद्वानों ने अनेक प्रकार से विवेचन किया है, पर अभी तक कोई ऐसा निर्णय सामने नहीं आया, जिसमें इस विषय के समस्त प्राचीन लेखों का परस्पर सामञ्जस्य प्रस्फुटित किया गया हो। आधुनिक विद्वानों ने जो विभिन्न विचार इस विषय में प्रस्तुत किये हैं, उनका भी प्राचीन लेखों में कुछ

न कुछ आधार मिल जाता है, जिससे किसी भी जिज्ञासु के सन्देह की मात्रा और दृढ़ हो जाती है। इस विषय में ऋषि का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव काल

विषय का प्रारम्भ करते हुए ऋषि ने लिखा—'बाईस सौ वर्ष हुए कि एक शङ्कराचार्य द्रविड़देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे' ऋषि ने जब यह पंक्ति लिखी, उसे लगभग नव्वे वर्ष हो गये हैं। हम स्थूल रूप से इसे एक शताब्दी मान लेते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ, विक्रम संवत् के प्रारम्भ होने से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ। ऋषि का यह कथन ऋषि की एक अन्य पंक्ति से भी पुष्ट होता है। सत्यार्थ प्रकाश [विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद स्थूलाक्षर संस्करण] के पृष्ठ २५६ पंक्ति २७ में लेख है— 'शङ्कराचार्य के तीन सौ वर्ष के पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य राजा कुछ प्रतापी हुआ' यहाँ शंकर और विक्रमादित्य के काल का अन्तर स्पष्ट उल्लिखित है। ऋषि के विचार से यह वही विक्रमादित्य राजा है, जिसका संवत् इस समय २०२० चल रहा है।

आचार्य शङ्कर के इस प्रादुर्भाव काल का उल्लेख ऋषि ने किस आधार पर किया है, यह विचारणीय है। यदि ऐसे कोई आधार हैं, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि शङ्कर के प्रादुर्भाव काल का विवेचन करने वाले आधुनिक विद्वानों ने उन आधारों की ओर ध्यान देने की सर्वथा उपेक्षा की है, क्योंकि आधुनिक विद्वान् शङ्कर का काल विक्रम की आठवीं नवीं शताब्दी निश्चित करते हैं। इन दोनों कालों में ग्यारह सौ-बारह सौ वर्ष के लगभग का अन्तर है, जो सर्वथा अनुपेक्षणीय है। विचारकोटि से इसको ओझल करना ऐतिहासिक तथ्यों के विवेचन व अन्वेषण की ओर से मुंह मोड़ना होगा। आधुनिक विद्वानों ने जिन आधारों पर अपना मत प्रकट किया है, उनको यहाँ उपस्थित करना और उनकी समीक्षा करना केवल लेख का कलेवर बढ़ाना होगा, यहां उसकी उपेक्षा करदी गई है। ऋषि के लेख का आधार क्या रहा होगा, इस पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

ऋषि का इतिहास ज्ञान

प्रायः इस विषय में आधुनिक विचारों से अभिभूत अनेक आर्य विद्वानों को भी यह कहते सुना गया है, कि ऋषि कोई इतिहास का पण्डित नहीं था, इस विषय में उसका लेख अन्यथा हो सकता है, यह कोई ऐसी सैद्धान्तिक बात नहीं है, जिसको मानने या न मानने में किसी आवश्यक सिद्धान्त का व्याघात होता हो। ऐसे विचार रखने वालों के प्रति मेरा नम्र निवेदन है, किसी निश्चय की घोषणा करने से पहले उस पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेना अच्छा होता है। समाज में असमीक्ष्यकारी के समान असमीक्ष्यवादी होना भी बुद्धिमत्ता का द्योतक नहीं होता। मैं यह नहीं कहता, कि ऋषि इतिहास का पंडित था या नहीं, पर इस ओर ऋषि की सुरुचि के विषय में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में महाभारत काल से लेकर पृथ्वीराज वंश पर्यन्त दिल्ली के राजाओं की वंशावली का उल्लेख इस विषय में ऋषि दयानन्द की सतर्कता एवं सजगता का ज्वलन्त निर्देश करता है।

इस वंशावली के विषय में भी प्रायः लोग सन्दिग्ध बातें करते रहते हैं, जबकि ऋषि ने वंशावली के प्रारम्भ में उन आधारों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, जहाँ से इसकी प्रतिलिपि की गई। इसकी पुष्टि में अब एक नया हस्तलेख उपलब्ध हुआ है। सत्यार्थप्रकाश में दी गई वंशावली का आधार ऋषि के लेखानुसार 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' नामक पाक्षिक पत्र हैं, जो नाथद्वारा से उस समय प्रकाशित होते थे। नाथद्वारा उदयपुर राज्य में एक छोटा नगर है, जहाँ वैष्णव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मन्दिर है। यह वंशावली विक्रम संवत् १९३९ के मार्गशीर्ष के अंकों में छपी थी। उस पत्र के सम्पादक ने अपने मित्र से एक प्राचीन पुस्तक जो विक्रम संवत् १७८२ का लिखा हुआ था, लेकर उसके आधार पर यह वंशावली प्रकाशित की थी। इससे स्पष्ट है कि सत्यार्थप्रकाश में दी गई राजवंशावली का आधार उदयपुर राज्य से प्राप्त कोई हस्तलेख है।

पर अब इस विषय का एक नया हस्तलेख जो प्राप्त हुआ है, वह पंजाब के पहाड़ी जिला कांगड़ा का है, और वहाँ की स्थानीय भाषा में है।

पंजाब सरकार के हिन्दी विभाग के निदेशक श्री डा० परमानन्द एम. ए. के निदेशन में शीघ्र ही इस हस्तलेख के प्रकाशित होने की आशा है। इस हस्त-लेख का सम्पादन श्री डा० गौरीशंकर एम. ए., श्री पं० रघुनन्दन शास्त्री एम. ए. ने किया है, जिनकी जन्मभूमि जिला कांगड़ा है। इस हस्तलेख की सूचना श्री डा० परमानन्द ने पंजाब सरकार के मासिक पत्र 'सप्तसिन्धु' में तथा वाराणसी के 'वेदवाणी' में प्रकाशित की। इस विषय में उक्त डाक्टर महोदय से पत्र व्यवहार करने पर ज्ञात हुआ, कि हस्तलेख शीघ्र ही प्रकाशित होकर जनता के सम्मुख आने को है। इतने अन्तर से बसे दो विभिन्न देशों और विभिन्न भाषाओं में मिले हस्तलेखों की लगभग पूर्ण जैसी समानता उनकी ऐतिहासिक सचाई को निस्सन्देह स्पष्ट करती है। इसकी पूर्ण परीक्षा तो हस्तलेख के प्रकाशित होने पर ही हो सकेगी, पर इससे इतना निश्चय है कि सत्यार्थप्रकाश की राजवंशावली कोरी कल्पना नहीं है, इसमें ऐतिहासिक तथ्य निश्चित रूप से निहित हैं। यह सब कहने का हमारा इतना ही अभि-प्राय है, कि ऋषि दयानन्द इतिहास का पण्डित हो या न हो, पर इतिहास विषयक जो पंक्ति या सन्दर्भ उसने कहीं लिखा है, वह सर्वथा निराधार नहीं।

शंकर काल का आधार

अब हम अपने मुख्य लक्ष्य पर आते हैं, कि आचार्य शंकर के उक्त प्रादुर्भाव काल का आधार ऋषि के सन्मुख क्या रहा होगा? ऋषि दयानन्द ने संन्यास की दीक्षा उसी परम्परा में ली, जो शंकराचार्य और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा आज तक प्रवर्त्तित है। प्रत्येक संन्यासी दीक्षा के समय और अन्य विशिष्ट अवसरों पर उस गुरु-परम्परा का ऐसे ही स्मरण करता है, जैसे भारत में शुभ कार्यों के आरम्भ में संकल्प पढ़े जाने की प्रथा है। उसमें आद्य शंकराचार्य के काल का संकेत तथा पूर्व-गुरुओं की नामावली का उच्चारण किया जाता है। यह परम्परा इतनी अविच्छिन्न है, कि इसमें किसी भ्रान्ति की आशंका नहीं की जा सकती, प्रत्येक दण्डी संन्यासी के मुख से जिसने उस परम्परा में संन्यास की दीक्षा ली है, इसको सुना जा सकता है। ऋषि दयानन्द उस परम्परा से पूर्णरूप से परिचित था।

इसके अतिरिक्त आचार्य के मठों की वंशपरम्परा प्रायः मठों में सुरक्षित है। आद्य शंकराचार्य ने अपने विचारों के प्रचार--प्रसार और उनका स्थैर्य बनाये रखने के लिए भारत देश की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। उस पीठ पर बैठने वाला प्रत्येक व्यक्ति शङ्कराचार्य कहा जाता है। द्वारिका, शृङ्गेरी, गोवर्द्धन और ज्योतिर्मठ के गुरु-शिष्यों की परम्परा की सूची आद्य शङ्कराचार्य से लेकर आज तक अविच्छिन्न रूप से मठों में सुरक्षित हैं। उन सूचियों में प्रत्येक आचार्य के गद्दी पर बैठने के पूरे काल का निर्देश है। उनसे यह स्पष्ट विदित होता है, कौन आचार्य किस संवत् में गद्दी पर बैठा और कब ब्रह्मलोक लीन हुआ, प्रारम्भ में युधिष्ठिर संवत् का उपयोग किया गया है। द्वारिकामठ के आचार्यों की ऐसी एक सूची 'सरस्वती छापाखाना, स्टेशन रोड़, अजीज बिल्डिंग, भावनगर, से प्रकाशित हुई थी, जो मेरे पास सुरक्षित है, और 'विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद' से प्रकाशित स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश के २४६ पृष्ठ की टिप्पणी में अविकल रूप से उसे मुद्रित करा दिया है। उसके अनुसार शङ्कराचार्य का प्रादुर्भावकाल ठीक वही निश्चित होता है, जो सत्यार्थ प्रकाश में निर्दिष्ट है।

इसके अतिरिक्त अन्य मठों की आचार्य-सूची के आधार पर भी इसकी परीक्षा करना अपेक्षित है। पत्र-व्यवहार और अवसर पाकर एक तीर्थयात्री महात्मा संन्यासी के द्वारा वह सत्र जानने के लिये मैंने यत्न किया, इस विषय की बहुत सी सामग्री मेरे पास संकलित है। अवगत हुआ है, हिमालय स्थित ज्योतिर्मठ की आचार्य परम्परा खण्डित है। अनेक शताब्दियों तक पीठ शून्य पड़ा रहा, उतने समय कोई आचार्य वहां नहीं हुआ। कालान्तर में टिहरी दरबार ने मठ का जीर्णोद्धार करवाया, कतिपय आचार्यों की सूची उपलब्ध हुई है, पूर्ण नहीं है। जगन्नाथपुरी के गोवर्द्धन मठ की सूची प्राप्त हो गई है, पर उसमें आचार्यों के कार्यकाल का निर्देशन नहीं है, दक्षिण के शृंगेरीमठ की सूची प्राप्त नहीं हो सकी. पर पीठ में सुरक्षित इस विषय के लेखों के अनुसार यह ज्ञात हो सका, कि शङ्कराचार्य का जन्म २५९३ कलि संवत् में तथा देहावसान २६२५ कलि संवत् में हुआ। द्वारका के शारदा पीठ की आचार्य वंशानु मातृका के अनुसार जिसका अभी ऊपर उल्लेख किया गया है, और जिसे स्थूलाक्षर सत्यार्थप्रकाश की प्रथमोद्धृत पंक्ति पर टिप्पणी में अवि-

काल मुद्रित करा दिया गया है, शंकर का जन्म-काल २६३१ युधिष्ठिर संवत् लिखा है, तथा निधन काल २६६३।

कतिपय आधुनिक लेखकों ने कलि संवत् और युधिष्ठिर संवत् को एक समझकर दोनों मठों के उक्त लेख में भेद बताने का प्रयास किया है, पर यह उन लेखकों की भ्रान्ति है। युधिष्ठिर संवत् महाराज युधिष्ठिर के राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है। महाभारत से ज्ञात है, कि युधिष्ठिर ने ३६ वर्ष तक राज्य किया, तदनन्तर कलि प्रारम्भ होने वाला है, इस भावना से राज्य त्याग युधिष्ठिर अपने भाईयों के साथ तपस्या के लिये हिमालय चले गये, उसके अनन्तर कलि का प्रारम्भ हुआ और तभी से कलि संवत् गिना गया। दोनों मठों के लेखों में युधिष्ठिर और कलि संवत् का अन्तर ३८ वर्ष है, जो युधिष्ठिर के राज्यकाल तथा राज्य त्याग एवं कलि आगमन के अन्तराल काल को प्रकट करता है। कभी-कभी एक वर्ष का अन्तर संवत् के गत और चालू रूप में निर्देश करने पर भी हो जाता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि मठों के लेख में कोई अन्तर नहीं है। दोनों लेखों के अनुसार आचार्य का प्रादुर्भाव काल एक ही है।

अब यह देखना चाहिए, कि यह काल विक्रम से कितने वर्ष पूर्व आता है। चालू विक्रम संवत् के साथ कलि संवत् ५०६४ चल रहा है। गणना करने पर स्पष्ट होता है कि ऋषि द्वारा कथित आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव काल मठों की सूची में लिखित काल के लगभग समीप है। जिन लेखकों ने शंकर का काल विक्रम की आठवीं नौवीं शताब्दी बताया है, इसके साथ मठों के लेखों का बहुत दूर का अन्तर है, लगभग बारह सौ वर्ष से भी अधिक का, जो अत्यन्त चिन्तनीय है।

शंकर का व्यक्तित्व और उस के विचारों की पृष्ठभूमि

मुख्य शीर्षक के नीचे यह दूसरा विभाग आता है, कि आचार्य शंकर के जो विचार या सिद्धान्त आज हमारे सामने हैं, उनकी पृष्ठभूमि क्या रही होगी। ऋषि ने इस विषय में लिखा—'जो जीव ब्रह्म की एकता जगत मिथ्या शंकराचार्य का निजमत था तो यह अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिए उस मत का स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।' इस लेख से

प्रतीत होता है, कि ऋषि इस बात को सहन करने के लिये सर्वात्मना तैयार न था, कि शंकर के नाम से जो सिद्धान्त आज हमारे सामने हैं, वे शंकर के सर्वथा निजीमत रहे होंगे। जैनमत के खण्डन की भावना से भी ऐसा मत स्वीकार कर लेने की संभावना की जा सकती है। जहाँ अनेक अन्य सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक आचार्यों के लिए ऋषि ने ऐसे पदों का प्रयोग कर दिया है, जो कठोर प्रतीत होते हैं, चाहे उनमें वास्तविकता ही अधिक हो; वहाँ शंकराचार्य के विषय में ऋषि के विचार कोमल और आत्मीय भावना को ध्वनित करते हैं। कुछ ऐसा प्रतीत होता है, कि शंकराचार्य के व्यक्तित्व के प्रति ऋषि आस्थावान् रहा हो। 'आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव काल' उपशीर्षक के नीचे जो पंक्ति पहले सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत की गई है, उसमें भी इन भावनाओं की झलक प्रतीत होती है।

वहाँ शब्द हैं—'शंकराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर' इस पंक्ति में शंकर के द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन और शंकर के सर्वशास्त्रगत वैदुष्य को ऋषि ने प्रकट किया है। फिर आगे के सन्दर्भों में शंकराचार्य द्वारा 'वेदमत की स्थापना' 'वेदमत का प्रचार' आदि पदों का निर्देश किया है। शंकराचार्य के व्यक्तित्व के विषय में उक्त भावनाओं के पोषक अगले सन्दर्भों पर ध्यान दीजिये, जो सत्यार्थप्रकाश के इस प्रसंग में आये हैं—

१—शंकराचार्य शास्त्र तो पढ़े ही थे, परन्तु जैनमत के भी पुस्तक पढ़े थे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी।

२—वहाँ उस समय सुधन्वा राजा था जो जैनियों के ग्रन्थ और कुछ संस्कृत भी पढ़ा था। वहाँ [उज्जैन नगरी में] जाकर वेद का उपदेश करने लगे।

३—जब तक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था तब तक सन्देह में थे कि इन में कौन सा सत्य और कौन सा असत्य है, जब शंकराचार्य की यह बात सुनी, बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले, कि हम शास्त्रार्थ करा के सत्याऽसत्य का निर्णय अवश्य करावेंगे।

४—उसमें शंकराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेदविरुद्ध मत था।

५—शंकराचार्य का पक्ष वेदमत का स्थापन............था।

६—जब वेदमत का स्थापन हो चुका और विद्या प्रचार करने का विचार करते ही थे......अवसर पाकर शंकराचार्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई ....छह महीने के भीतर शरीर छूट गया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है, कि शंकराचार्य ने अपने जीवन में जो कार्य किया ऋषि ने उसे जैनमत के प्रतिरोध में वेदमत का प्रचार और वेदमत की स्थापना के रूप में स्वीकार किया है। इससे ऋषि के विचारों में शंकर के निजी व्यक्तित्व और उसके प्रचारित सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि की वास्तविकता का पता लगता है। शंकराचार्य और उनके कार्य के प्रति उक्त भावनाओं के रहते भी ऋषि ने उन मन्तव्यों को सर्वथा अवैदिक माना है, जो शंकराचार्य के नाम से आज सबके सन्मुख हैं। उनका प्रत्याख्यान करने में ऋषि ने कोई कसर नहीं छोड़ी। अब संक्षेप में उसका विवेचन पढ़िये।

आचार्य शंकर का मत और उसकी समीक्षा

शांकरमत—आचार्य शंकर के मन्तव्यों को समझने और उनकी विवेचना के लिये उन्हें कतिपय उपशीर्षकों में बांट लेना आवश्यक है। मुख्यरूप से निम्नलिखित शीर्षकों में आचार्य के प्रायः सभी विचार आजाते हैं।

१—वास्तविक सत्ता एक मात्र ब्रह्म है।

२—प्रतीयमान जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं।

३—जगत् मिथ्या है, इसकी यथार्थ सत्ता कुछ नहीं।

४—अनिर्वचनीय माया ब्रह्म की शक्ति है।

५—विवर्त्तवाद।

६—स्वप्न, रज्जु में सर्प, सीप में चाँदी, मृगतृष्णिका में जल, गन्धर्व-नगर, इन्द्र जाल आदि दृष्टान्त।

इन शीर्षकों में प्रायः वे सभी विचार आ जाते हैं, जिनकी समीक्षा सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के इस प्रसंग में की गई है। यथाक्रम इस विषय में विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

१—वास्तविक सत्ता एक मात्र ब्रह्म है

इस तथ्य को वेद और समस्त वैदिक साहित्य एवं आर्य परम्परा में स्वीकार किया गया है, विश्व का रचयिता ब्रह्म है। वेदों और अन्य शास्त्रों में उस एक तत्त्व का अनेक नामों से वर्णन हुआ है। यह अनेक नाम और अनेक रूपों में वर्णन होने पर भी वह सत्ता एकमात्र है। ब्रह्म या परमेश्वर के रूप में वह दो सत्ता नहीं मानी जातीं। वह सत्ता चेतन है और आनन्दरूप है। ब्रह्म अथवा परमेश्वर की ऐसी एकमात्र सत्ता से किसी को नकार नहीं है। पर उस एकमात्र सत्ता के स्वीकार का यह अभिप्राय नहीं, कि उसके अतिरिक्त और कोई सत्ता है ही नहीं। पर आचार्य शंकर ने यही घोषणा की है, कि उससे अतिरिक्त अन्य सत्ता की वास्तविकता नहीं है। अन्य जो कुछ प्रतीत होता है वह सब आभासमात्र हैं, इसको प्रमाणित करने के लिये कतिपय उपनिषद् वाक्य प्रस्तुत किये जाते हैं। उसमें एक वाक्य है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' [छा० ३।१४।१] शांकर विचार को स्पष्ट करने के लिए इस वाक्य के प्राय: प्रथम भाग का अधिक प्रयोग किया जाता है। उसका अर्थ करते हैं—निश्चित ही यह जो कुछ है–दृश्यादृश्य जगत्—सब ब्रह्म है। यदि इस वाक्यांश का वस्तुत: ऐसा ही अर्थ है, तो ब्रह्म की उपासना का उपदेश करने के लिये प्रवृत्त हुआ उपनिषत्कार दृश्यादृश्य जगत् की उपासना में ही ब्रह्म जिज्ञासु को प्रवृत्त कर रहा है, यह अभिप्राय इसका मानना होगा, क्योंकि जब यह जगत् ब्रह्म ही है, तो जगत् की उपासना ही ब्रह्म की उपासना होगी, जागतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करना और उन्हें भोगना ही उसकी उपासना है। ऐसा मानने पर यह उपदेश वास्तविकता से दूर सर्वथा अनर्थरूप होगा। फलत: इस वाक्यांश का इतना भाव प्रकट कर उक्त विचार को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

उपनिषद् के पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—'सर्वं खल्विदं तज्जलान् इति अवबुध्य शान्त: सन् ब्रह्म उपासीत।' यह सब जगत् तज्ज, तल्ल और तदन् है, ऐसा समझकर शान्त हो जिज्ञासु ब्रह्म की उपासना करे। इस जगत् का उत्पन्न करने वाला ब्रह्म है, वही प्रलय करने वाला और वही इसका धारण करने वाला है; इसलिये इस जगत् में न फंसकर जो इसे बनाता

बिगाड़ता और रक्षा करता है, उसी की उपासना करनी चाहिये। वस्तुतः वाक्य में 'ब्रह्म' पद 'उपासीत' क्रिया का कर्म है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है, कि हे उपासक जीव ! तू इस संसार में जो फंस रहा है और इसी को सब कुछ समझता है, यह तेरी नादानी है। अरे ! इसको भी जो बनाने बिगाड़ने का सामर्थ्य रखता है और जिसकी शक्ति से इस समय यह संचालित है, उसकी उपासना कर वह ब्रह्म है, यह जगत् तो विकारमात्र है, यह समझकर शान्तिपूर्वक उस ब्रह्म की उपासना करना योग्य है। फलत: इस वाक्य द्वारा जगत् को ब्रह्म नहीं बताया गया, जगत् एक विकारमात्र परिणामी तत्त्व है, उस से वितृष्ण होकर अपरिणामी, जगत् के अधिष्ठाता ब्रह्म की उपासना करने का यहाँ उपदेश है। आगे उपनिषद् में क्रतुमय-कर्मपरायण जीवात्मा के लिए उस ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिसका सामञ्जस्य जगत् को ब्रह्म मानकर सर्वथा असम्भव है। फलत: ब्रह्म की एकमात्र सत्ता होने पर भी यह कहना केवल दुस्साहस है, कि उसके अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं।

२—प्रतीयमान जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है—

प्रत्येक देह में एक अतिरिक्त चेतना का अनुभव होता है। यह चेतना अथवा चेतनतत्त्व 'जीवात्मा' है, ऐसा विचारकों ने माना है। यह चेतना क्योंकि प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् अनुभूत होती है, और शरीरों की कोई सीमा कोई अन्त संख्या की दृष्टि से नहीं है, इसलिये यह चेतनतत्त्व भी संख्या की दृष्टि से अनन्त है, ऐसा साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने स्वीकार किया है। इस विषय में आचार्य शंकर का कहना है, कि चेतनतत्त्व केवल एक ब्रह्म है, उससे अतिरिक्त चेतनतत्त्व अन्य कोई नहीं है। विभिन्न शरीरों में जो चेतन प्रतीत होता है, और जिसको जीवात्मा कहा जाता है, वह अन्त:करण उपाधि से उपहित ब्रह्म ही है। यह उपाधि जब तक रहती है, पृथक् जीव नाम से इस चेतना का आभास होता है। आत्मसाक्षात्कार अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उपाधि नष्ट हो जाती हैं, चेतनतत्त्व अपने ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित रहता है।

विचारणीय है, जब एकमात्र ब्रह्म से अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं, तो यह उपाधि कहां से आ जाती है ? तथा शुद्ध ब्रह्म को इस उपाधि ने कब उपहित

किया ? और क्यों ? इस क्यों का समाधान तो शांकर मत में कोई नहीं है, केवल लीलावश ऐसा होता है, यह कह दिया जाता है, जो सचाई से कन्नी काट जाने के प्रयास के समान है। 'कब' का उत्तर दिया जाता है, कि यह अनादि है। शांकर मत में यह भी एक दुर्बल पहलू है। आचार्य और उसके अनुयायियों ने इसके समाधान के लिये छह पदार्थ अनादि माने हैं। उसके लिये सम्प्रदाय में ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जीवेशौ च विशुद्धाचिद् विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥

हम छह पदार्थ अनादि मानते हैं—१. जीव, २. ईश्वर, ३. विशुद्ध, चेतन ब्रह्म, ४. जीव ईश्वर का भेद, ५. अविद्या, अज्ञान, माया, ६. अविद्या और शुद्धचेतन ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध। इनमें शुद्ध ब्रह्म ही उस समय जीव कहा जाता है, जब वह कार्य [उत्पन्न अन्तःकरण] उपाधि से उपहित होता है; तथा उस समय ईश्वर कहा जाता है जब कारण [अविद्या, माया] उपाधि से उपहित होता है। जब ये उपाधि नहीं रहतीं, तब शुद्धचेतन ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है। छह अनादि पदार्थों में शुद्धचेतन ब्रह्म अनादि अनन्त है, शेष पांच अनादि सान्त हैं।

इस मान्यता में अनेक आपत्तियां हैं, और बहुत कुछ विचारणीय है, पर अतिसंक्षेप से कतिपय बातें यहां प्रस्तुत की जाती हैं—

क—सब से प्रथम जीव के विषय में विवेचन करना है। ब्रह्म को उस समय जीव बताया गया, जब कार्य उपाधि से उपहित होता है। कार्य का अर्थ है—उत्पन्न होने वाला तत्त्व। जो उत्पन्न होने वाला है, वह अनादि कैसे ? यदि वह अनादि नहीं, तो जीव अनादि कैसे ? कार्य भी हो और अनादि भी हो, यह परस्पर सर्वथा विरुद्ध है। इस रूप में जीव की कल्पना सर्वथा असंगत है, इसलिये जीव तथा ब्रह्म को एक नहीं कहा जा सकता।

ख—कारण-उपाधि अविद्या अथवा माया है। इस अविद्या या माया के स्वरूप का निर्वचन शांकर मत में नहीं किया जा सका, इसलिये इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है, पर फिर भी यह कारण तत्त्व है। यद्यपि शांकर मत में

यह कहा जाता है, कि अविद्या का ब्रह्म से भेद अथवा अभेद आदि का कथन नहीं किया जा सकता; पर वस्तुतः यह है—दुराग्रहमात्र। जब अविद्या को अनिर्वचनीय मान लिया गया, तो निश्चित है, कि वह ब्रह्म नहीं है। क्योंकि ब्रह्म कभी अनिर्वचनीय नहीं है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसी आधार पर उसका निर्वचन किया जाता है। अविद्या या माया शांकर मत से कभी निर्वचनीय नहीं। तब इन दोनों का भेद स्पष्ट है। दोनों का अपना अस्तित्व है ऐसी स्थिति में शांकर मत की यह मान्यता भी असंगत हो जाती है, कि एक मात्र सत्ता ब्रह्म की है, अन्य कोई सत्ता नहीं।

कहा जा सकता है, कि अविद्या अथवा माया का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, यह परिवर्तनशील अदलती-बदलती रहती है, जिस सत्ता की तीनों कालों में बाधा न हो, सदा अपने रूप में अवस्थित रहे, वही यथार्थ सत्ता है; वह केवल ब्रह्म है।

शांकर-मत का ऐसा कथन दोनों प्रकार से चिन्तनीय है। अविद्या अथवा माया का अस्तित्व भी त्रिकालावाध्य है। अविद्या कभी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करती। परिवर्तन अथवा परिणाम तो उसका स्वरूप ही है, यदि अनिर्वचनीय कहा जाय, तो वह भी उसका स्वरूप है। वह तीनों कालों में कभी अपने ऐसे स्वरूप का परित्याग नहीं करती। दूसरे प्रकार से यह कथन इस रूप में असंगत है, कि शांकर मत में ब्रह्म का परिणाम जगत् माना गया है, तब ब्रह्म भी अविद्या के समान परिणामी अथवा परिवर्तनशील क्यों न माना जायगा। ब्रह्म को उपादान मानकर मुंह से भले ही यह कहा जाता रहे, कि उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता, पर ये दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं, कि उसे उपादान भी माना जाय और अपरिणामी भी।

फिर अविद्या को अनादि सान्त माना गया। जगत् का कारण होते हुए यह सान्त कैसे है? यह बात शांकर मत में सर्वथा स्पष्ट नहीं है। कहा जाता है, कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर अविद्या नष्ट हो जाती है, ब्रह्म स्वरूप में अवस्थित रहता है। यद्यपि इस कथन में —ब्रह्म का ज्ञान किसको होता है? यदि ब्रह्म को, तो क्या ब्रह्म अभी तक अज्ञानी था? यदि था, तो सर्वज्ञ ब्रह्म अज्ञानी कैसे हुआ? माया के सम्पर्क से कहा जाय, तो अचेतन माया सर्वज्ञ

सर्व शक्तिमान् ब्रह्म को कैसे अभिभूत कर लेती है ? इत्यादि विकल्पों का कोई सन्तोषजनक समाधान शांकर मत में नहीं है, फिर भी यह मानकर आगे विचार करते हैं, कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानी मुक्त हो जाता है, और माया का अन्त, इसलिये माया या अविद्या को सान्त माना गया है, पर इस विषय में यह सोचने की बात है, कि यह सृष्टि क्रम अनादि काल से चला आता है, इस काल में अनेकानेक ज्ञानी मुक्त हुए होंगे, परन्तु अविद्या का पसारा उसी तरह चालू है, इसमें कोई अन्तर नहीं, संसारचक्र बराबर चला आ रहा है, जो शांकरमत में अविद्या के कारण है। अनादिकाल से आज तक जैसे यह अपनी स्थिति में बराबर विद्यमान है, ऐसे ही अनन्तकाल तक विद्यमान रह सकता है, इसमें कोई बाधा आती नहीं दीखती, तब अविद्या को सान्त कहना असंगत है।

कहा जाता है, कि अविद्या के दो भेद हैं—मूला अविद्या और तूला अविद्या। तूला अविद्या प्रतिव्यक्ति नियत है, व्यक्ति का मोक्ष होने पर उसका नाश हो जाता है, मूला अविद्या के कारण संसारचक्र चालू रहता है। संसार का क्रम क्योंकि सदा बना रहता है, इसलिये मूला अविद्या को अनादि अनन्त मानना ही चाहिये। अगत्या ऐसा मानने पर केवल ब्रह्म का अनादि अनन्त अस्तित्व न रहकर अविद्या का भी हो जाता है। वस्तुतः शांकरमत में जगत् के उपादान कारण प्रकृति को ही 'अविद्या' नाम दिया गया है, और उसको जगत् की उपादान कारणता से हटाया नहीं जासका। ब्रह्म को उपादान कहना तो दुराग्रहमात्र है, यह आगे 'विवर्त्तवाद' के प्रसंग में स्पष्ट होगा। इस प्रकार छह पदार्थों के अनादि होने का शांकरवाद अत्यन्त शिथिल है।

अध्यास का विवेचन—

शांकरमत के आचार्यों का कहना है, कि जीव एवं संसार आदि की प्रतीति अध्यास अथवा अध्यारोप के कारण होती है। ब्रह्म में जीव आदि का अध्यारोप होने से जीवादि का अस्तित्व भासता है, वास्तविक सत्ता इनकी कुछ नहीं है। अध्यास का स्वरूप बतलाया—'वस्तुनि अवस्त्वारोपणमध्यासः।' वस्तु में जो अवस्तु का आरोप किया जाय, वही अध्यास है। जैसे रज्जु में सर्प का आरोप होता है। रज्जु वस्तु भूत है, सर्प वहाँ नहीं है, पर प्रतीत होता है, ऐसी ही प्रतीति जीव आदि की है, जिस प्रकार रज्जु आकार का टेढ़ा-मेढ़ा पड़े

रहना अन्धकार सा होने पर सर्प प्रतीति का प्रतीक है, इसी प्रकार ब्रह्म आधार में अन्तःकरण एवं माया का सम्बन्ध जीव एवं संसार की प्रतीति का प्रयोजक होता है, वस्तुतः इनकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

विचारणीय है कि अध्यास के लक्षण में जो 'वस्तु में अवस्तु का आरोप' कहा गया, उसका क्या तात्पर्य है। इसके अनुसार रज्जु वस्तु है और सर्प अवस्तु है। सोचिये, क्या सर्प सर्वथा अवस्तु है, या रज्जु रूप से अवस्तु है? आप यह निश्चित रूप से समझ सकेंगे, कि सर्प सर्वथा अवस्तु नहीं है। यदि ऐसा सत्य होता, तो उससे भय आदि का होना, और उस रूप में प्रतीति होना भी सर्वथा असम्भव होता। सर्प का सच्चा अस्तित्व विद्यमान है, उससे होने वाले कष्ट या हानि का भी ज्ञान है, तब उसे सर्वथा अवस्तु मानना कैसे सत्य व सम्भव हो सकता है। यदि रज्जु रूप से सर्प अवस्तु है, तो सर्प रूप से सर्प का वस्तु होना स्वीकार कर लिया। एक वस्तु के रूप में अन्य वस्तुओं का न होना उनके अवस्तु माने जाने का साधक नहीं है, अन्यथा प्रत्येक वस्तु अवस्तु कही जा सकेगी। तब ब्रह्म भी अवस्तु होगा, क्योंकि माया अथवा जड़-रूप से उसका अवस्तु होना माना जा सकेगा।

और सोचिये, रज्जु में सर्प की ही प्रतीति क्यों होती है? जैसा रज्जुरूप से सर्प अवस्तु है, ऐसे घड़ा, घोड़ा, और भैंस भी अवस्तु हैं, उनकी प्रतीति वहाँ क्यों नहीं होती? कहना होगा, कोई ऐसे समान धर्म रज्जु में हैं, जो सर्प में प्रथम देखे गये हैं, वे यहाँ सर्प की प्रतीति कराने में सहायक होते हैं। अन्य घोड़ा, भैंस आदि की नहीं, यह व्यवस्था निश्चय कराती है, कि रज्जु और सर्प दोनों वस्तु भूत हैं, इनमें अवस्तु कोई नहीं हैं। फिर जीव तथा ब्रह्म के विषय में ऐसी समानता को निभाने वाला कौन है? अन्तःकरण दोनों के बीच में इस कड़ी का जोड़ने वाला कहा जा सकता है, अन्तःकरण के विषय में छह अनादि पदार्थों के विवेचन के अन्तर्गत कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार कड़ी जोड़ना जीव की स्वतन्त्र सत्ता को ही सिद्ध करता है। फिर अन्तःकरण का सम्बन्ध ब्रह्म से कैसा? यह जीवात्मा का अपना साधन है। ब्रह्म सर्वव्यापक प्रत्येक वस्तु के साथ सम्बन्ध रखता है, वह किसी ऐसे

सम्बन्ध से इस प्रकार प्रभावित नहीं होता, कि उसका स्वरूप ही परिवर्तित हो जाय, या वह स्वयं अन्यथा प्रतीत होने लगे। हम विश्व के रूप में उसकी विभूति, कृपा, एवं अनुपम अनुग्रह आदि का बखान अपनी भावनाओं के अनुसार कर सकते हैं, और यह बखान भी, बखान करने वाले को तथा विश्व को उससे पृथक् व भिन्न सिद्ध करने में सहायक होता है। यदि सच देखा जाय, तो ब्रह्म में जीव का अध्यास नहीं, यह कुछ 'अज्ञानियों ने जीव में ब्रह्म का अध्यास कर लिया है, और अपने आप को ब्रह्म कहते फिरते हैं। क्या यह ब्रह्म की मखौल उड़ाना नहीं है ? समझना चाहिये, कि ब्रह्म और जीव की सत्ता एक नहीं है। दोनों अतिरिक्त तत्व हैं, समस्त शास्त्रों में इन दोनों का साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा किया गया वर्णन इनके भिन्न होने में सबल प्रमाण है।

ग—अनादि जीव की स्वतन्त्र वस्तुभूत सत्ता इस तथ्य को स्पष्ट करती है, कि उसका अन्त कभी नहीं हो सकता। मोक्ष होने पर भी जीव अपने रूप में बना रहता है, वह स्वरूप को छोड़ कर ब्रह्म नहीं बन जाता, अथवा ब्रह्मरूप नहीं हो जाता, वेदान्त सूत्रों [४।४।] में इस स्थिति को स्पष्ट किया है। आचार्य शंकर ने भी उसका अन्यथा प्रतिपादन नहीं किया। अत: जीव को सान्त कहना अप्रामाणिक है। ईश्वर की स्थिति शुद्धचित् अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त कोई नहीं। शुद्धचित् का ही माया अथवा अविद्या से अनादि सम्बन्ध बताया गया है, यह सम्बन्ध इस सचाई को प्रकट करता है, कि ब्रह्म माया [प्रकृति] से जगत् को परिणत करता है। जगत् के सर्ग-स्थिति-प्रलय में व्यापृत ब्रह्म को ईश्वर नाम से कहा गया है। जगत् विषयक यह व्यापार अनादि अनन्त है; ऐसी स्थिति में न तो ब्रह्म और माया [अविद्या = प्रकृति] के सम्बन्ध को सान्त माना जा सकता है, और न ब्रह्म तथा ईश्वर को अलग-अलग। इस प्रकार अनादि पदार्थ केवल तीन रह जाते हैं—जीव, ब्रह्म तथा अविद्या। न केवल ये अनादि हैं, प्रत्युत अनन्त भी हैं।

३—जगत् मिथ्या है, इसकी यथार्थ सत्ता कुछ नहीं

सोचना चाहिये, यथार्थ सत्ता किसे कहा जाता है ? बताया गया, जो तत्व त्रिकालाबाध्य है, उसकी सत्ता यथार्थ है, सत्य है। तीनों कालों में जिसकी बाधा

न हो, एक रूप रहे, वही सत्ता यथार्थ है। ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म है, जगत् की बाधा होती है, यह परिणामी-परिवर्तनशील है, ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर इसकी बाधा हो जाती है। साक्षात्कर्त्ता के लिये यह नहीं के बराबर है, अतः बाधित है।

विचार कीजिये, जगत् यथार्थ सत्ता की परिभाषा में कैसे नहीं आता। जगत् वस्तुत: कार्य तत्त्व है, अपने किसी मूल कारण से इस रूप में आया है। कार्यवस्तु अवश्य परिणामी अथवा परिवर्तनशील रहती है। यह उसका स्वरूप है, यह स्थिति या यह स्वरूप इसका कभी छूटता नहीं। एक वस्तु परिणामी है, एक अपरिणामी है; दोनों की अपनी स्थिति है, दोनों अपने स्वरूप का परित्याग कभी नहीं करतीं, तब उन दोनों की सत्ता को यथार्थ क्यों नहीं माना जाय। उनमें से किसी एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या कहना अप्रामाणिक है, जब कि समान रूप से दोनों स्वरूप का परित्याग कभी नहीं करतीं। इसलिये केवल परिणामी होने से जगत् मिथ्या है, यह कथन मिथ्या है।

यह सब को अभिमत है, कि जगत् कार्य है, अपने किसी मूलकारण से इस रूप में परिणत हुआ है। कारण यद्यपि अनेक प्रकार के माने गये हैं, यहां केवल उपादान कारण से अभिप्राय है। कहा जाता है, कि जगत् और जगत् का कारण इसलिये मिथ्या है, कि वह बाधित हो जाता है। आचार्य शंकर ने जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को माना है, तो उसी के नियम के अनुसार अब ब्रह्म को मिथ्या जानना चाहिये, क्योंकि जगत् और जगत् का कारण मिथ्या है। ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानकर उसे परिणामी होने से कैसे बचाया जा सकता है? कहा गया, कि यह सब माया अथवा अविद्या का प्रभाव है, उसीके द्वारा ब्रह्म इस रूप में आभासित होता है, अब सोचिये, जो वस्तु ब्रह्म को भी अन्यथा आभासित कर देती है, वह मिथ्या कैसे कही जा सकती है? वह तो सत्य से भी सत्य होनी चाहिये, जो 'सत्य' को भी प्रभावित कर देती है। फलत: जगत् की यथार्थता को चुनौती देना सर्वथा अयथार्थ है, जगत् की सत्ता ही तो ब्रह्म के अस्तित्व को प्रकट करती है। दोनों प्रकार की सत्ता अपने रूप में यथार्थ हैं, यही सत्य है।

कहा जाता है, कि जगत् अनिर्वचनीय माया का परिणाम है, ब्रह्म का नहीं। ब्रह्म का तो यह विवर्त्त है, इसलिए जगत् के परिणामी होने से ब्रह्म पर उसका कोई प्रभाव नहीं, अनिर्वचनीय माया एवं उसका परिणाम जगत् मिथ्या रहे, ब्रह्म की सत्ता उससे अछूती रहेगी। उसे सत्य मानने में कोई बाधा नहीं। माया मिथ्या कैसे है ? आईये, इस पर थोड़ा विचार करें।

४- अनिर्वचनीय माया ब्रह्म की शक्ति है

माया को शांकर विचार से सत् या असत् अथवा सत् असत् उभयरूप और अनुभयरूप कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका इन विकल्पों में से किसी रूप में कथन या निर्वचन किया जाना अशक्य है, इसलिए उसका स्वरूप अनिर्वचनीय कहा गया है। अब प्रश्न होता है, उसकी स्थिति क्या है ? क्या वह कोई स्वतन्त्र तत्त्व है ? यदि ऐसा माना जाय, तो अद्वैत सिद्धान्त की हानि होती है; क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त एक स्वतन्त्र तत्त्व को स्वीकार किया जाता है। इसलिये माना गया, कि अनिर्वचनीय माया ब्रह्म की शक्ति है। यदि शक्ति और शक्तिमान् के सम्बन्ध पर विवेचन किया जाय, तो बहस लम्बी हो जाती है, फिर भी इतना समझना आवश्यक है, कि माया शक्ति को ब्रह्म से भिन्न माना जाय, तो द्वैत की आपत्ति होती है, यदि ब्रह्म का स्वरूप ही इसे माना जाय, तो भी संभव नहीं, क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, और माया अनिर्वचनीय है; इन स्थितियों को एक नहीं कहा जा सकता। शांकरमत के आचार्यों ने यह ठीक किया है, कि उन्होंने माया को अनिर्वचनीय माना, उन्होंने इसे जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसका उपपादन सरल नहीं, इसलिये अपने ही वाग्जाल में से अपने आपको सुरक्षित बचाने के लिए उन्होंने यह सीधा रास्ता अपना लिया है, कि उसे अनिर्वचनीय मान लिया जाय। यह एक बड़ी आश्चर्य की बात है, कि ब्रह्म को तो इन्होंने बड़ी आसानी से पहचान लिया, पर उसकी चेरी माया हाथ न आई, वह इन्हें जुल देती रही।

ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया उसका स्वरूप नहीं है, यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है। बाह्य साधन भी किसी के सामर्थ्य या शक्ति के रूप में व्यवहृत होता है। राजा की बलिष्ठ सेना, अतुल सम्पत्ति, प्रजा की अनुकूलता, सन्तान की पितृ-

भक्ति राजा की शक्ति है। इसको राजा का अभिन्नरूप नहीं कहा जा सकता। परमेश्वर द्वारा जगत् बनाये जाने का साधन माया अथवा प्रकृति है। ब्रह्म माया [प्रकृति] से जगत् को परिणत करता है; इस प्रकार माया ब्रह्म की शक्ति कही जा सकती है। परमेश्वर को सर्वशक्तिमान् माने जाने का केवल इतना तात्पर्य है, कि माया से जगत्परिणति में निर्माता रूप से उसे अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। अनन्त विश्व का निर्माण और संचालन उसकी सर्वशक्तिमत्ता का एक ज्वलन्त प्रमाण है। ब्रह्म से भिन्न माया को अनिर्वचनीय मानकर भी उसे मिथ्या या तुच्छ नहीं कहा जा सकता। जैसे पहले कहा गया—सत्य वह वस्तु है जो सदा एक रूप रहे, अपने उस रूप का कभी परित्याग न करे। माया ऐसा ही तत्त्व है, वह अपने अनिर्वचनीय रूप का कभी परित्याग नहीं करती। वह चाहे सत् है असत् है उभयरूप या अनुभयरूप है अथवा इससे विपरीत है, जैसी भी है, वह सदा वैसी ही रहती है, उस स्वरूप को कभी छोड़ती नहीं, तब वह भी ब्रह्म की तरह सत्य क्यों नहीं? फलतः माया जगन्निर्माण के लिए साधन के रूप में ब्रह्म की शक्ति है। इस स्थिति का अपलाप करने में आचार्य शंकर को भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। अनथक प्रयास करने पर भी आचार्य ब्रह्म से माया का पीछा नहीं छुड़ा सका, यह कैसी अद्वैत?

५—विवर्त्त वाद

शांकरमत के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया के वर्णन में 'परिणाम' और 'विवर्त्त' इन दो पदों का प्रयोग किया जाता है। कारण के समान विकार 'परिणाम' और विषय विकार 'विवर्त्त' कहा जाता है। यह जगत् अशुद्ध, अचेतन, परिणामी, अनिर्वचनीय अथवा त्रिगुणात्मक माया का परिणाम है; क्योंकि माया के अशुद्धि आदि धर्म इसमें भी समानरूप से विद्यमान हैं। परन्तु यही जगत् शुद्ध, चेतन, अपरिणामी, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का 'विवर्त्त' है, क्योंकि उसके धर्म दिखाई नहीं देते।

यह वाद केवल इस प्रयोजन के लिए खड़ा किया गया है, कि जगत् के अनुपादान भी ब्रह्म को बलात् उपादान कारण कहा जा सके। जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, अर्थात् विषम विकार है, इसका स्पष्ट अर्थ यही है, कि वह जगत्

का उपादान कारण नहीं है। कुम्भकार का विषम विकार घट को, शिल्पी का भवन को, तन्तुवाय का वस्त्र को जैसे कहा जा सकता है, वैसे ही ब्रह्म का जगत् विकार है, तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि कार्य के निमित्त कारण को उपादान पद देने के लिए यह प्रयास है। घट आदि के कारण कुम्भकार आदि हैं, इससे किसी को नकार नहीं है। पर यह निश्चित है, कि घट आदि के जैसे कारण मृत्तिका आदि हैं, वैसे कुम्भकार आदि नहीं हैं। इसलिए उनको [मृत्तिका और कुम्भकार को] कारणता के एक वर्ग में अथवा एक स्तर पर नहीं रक्खा जा सकता। इनको आचार्य भी एक स्तर पर नहीं ला सका, उनकी विभिन्न स्थिति के लिए सम-विषम विकार का भेद कहना पड़ा। फिर भी ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहते रहना दुराग्रह-मात्र ही है। विवर्त्त की दीवार भी खिसकती नजर आई, उक्त मान्यता में कुछ सहारा न दे सकी।

६— स्वप्न, रज्जु में सर्प आदि दृष्टान्त

कतिपय ऐसे दृष्टान्त छांटे गये हैं, जिनका उपयोग शांकरमत की पुष्टि के लिए किया जाता है। ये सब भ्रमस्थल हैं। इनमें जो प्रतीति होती हैं, उनको मिथ्या अथवा कल्पनामूलक कहा जाता है। लोक-व्यवहार में जो तथा-कथित सत्य प्रतीति हैं, उनके साथ भ्रमस्थल-प्रतीतियों का मेल नहीं होता। इसलिए इनके मुकाबले में उन्हें मिथ्या कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान की अवस्था में सच्चा दीखने वाला लोक व्यवहार भी मिथ्या प्रतीत होता है। इन आधारों पर संसार का मिथ्यात्व प्रकट किया जाता है। ऐसे दृष्टान्तों में एक 'स्वप्न' है। स्वप्न में जो प्रतीति होती हैं, उनका सर्वात्मना मेल जाग्रत के साथ नहीं होता। यद्यपि कुछ-कुछ जाग्रत अवस्था की प्रतीतियों के समान स्वप्न में प्रतीति होती हैं, पर वहां कोई क्रम, कोई व्यवस्था, जाग्रत के समान किसी कार्य के फलाफल का साम्य नहीं रहता। जाग्रत में आप हाथी पर कभी सवार नहीं हुए, पर स्वप्न में ऐसा प्रतीत हो जाता है। आप पानी में कभी डूबे नहीं, स्वप्न में यह दीखता है, और पर्याप्त समय तक। जाग्रत में इसका परिणाम निश्चित मृत्यु है. स्वप्न में कुछ नहीं, देह के अन्दर ही नदी-नाले, पहाड़, विशाल

नगर, सड़कें, मैदान प्रतीत होते हैं, ऐसी स्थिति में इन प्रतीतियों को सत्य कैसे माना जाय? यह सब केवल मन की कल्पना का परिणाम है। इसी प्रकार ब्रह्म के संकल्प का परिणाम जगत् है, वह भी स्वप्न के समान मिथ्या माना जाना चाहिए।

दूसरे विचारकों ने स्वप्न की स्थिति को अन्य रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है, कि जाग्रत अवस्था में जो अनुभव किया जाता है, स्वप्न में वही स्मृति रूप में उभर आता है, पर निद्रा आदि दोषों के कारण उसमें व्यवस्था व क्रमिकता आदि की प्रतीति नहीं हो पाती। बौद्धों के साथ विचार में इस विषय की उनकी युक्तियों से तंग आकर आचार्य शंकर ने स्वयं एक स्थल [ब्रह्म सूत्र २।२।२९] पर स्वप्न को स्मृति मानकर उनसे अपना पीछा छुड़ाया है। विचारकों ने इस तथ्य का निश्चय किया है, कि स्वप्न द्रष्टा को जाग्रत में अनुभूत पदार्थों का ही स्वप्न में प्रत्यय होता है, इसलिए यह प्रत्यय स्मृति से अतिरिक्त अन्य नहीं समझना चाहिए। यही कारण है, कि जन्मान्ध व्यक्ति को कभी देखने का स्वप्न नहीं आता, यदि स्वप्न को स्मृति माना जाता है—जो मानना प्रामाणिक है—तो यह दृष्टान्त शांकरमत का पोषक नहीं रहता। कारण यह है, कि स्मृति सदा अनुभव पर आश्रित रहती है। स्वप्न के समान मिथ्या जगत् के लिए अनुभव स्थानीय सत्य जगत् का मानना तब आवश्यक होगा। उस अवस्था में अद्वैत सिद्धान्त अपकृत हो जाता है।

दूसरा दृष्टान्त 'रज्जु-सर्प' का है। इस विषय में पहले निर्देश कर दिया गया है। यदि सच्चे सर्प का प्रत्यय पहले न हो, तो रज्जु में सर्प की प्रतीति असम्भव है। यदि रज्जु में सर्प के समान ब्रह्म में जगत् का अध्यास है, तो प्रथम सच्चे जगत् का अस्तित्व स्वतः सिद्ध होजाता है, अन्यथा दृष्टान्त की समता को तिलाञ्जलि देनी होगी, और ऐसे दृष्टान्त को प्रस्तुत करना व्यर्थ होगा। माया [जादूगरी], गन्धर्वनगर, मृगतृष्णिका आदि सभी दृष्टान्तों में यही स्थिति है। पहले सच्चे रूप में अनुभूत वस्तु का ही इन स्थलों में प्रत्यय होता है। ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता, जिसके विषय में प्रत्येता को प्रथम जानकारी न रही हो। इसलिए अद्वैत की सिद्धि में ये कारगर नहीं कहे जा सकते।

ब्रह्म सूत्रों में ब्रह्म–जीव भेद का निरूपण

वेदान्त दर्शन में अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनके द्वारा ब्रह्म और जीव के भेद का प्रतिपादन किया गया है, जबकि कहा यह जाता है, कि वेदान्त अद्वैत का प्रतिपादन करता है। यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है, कि ऐसे सूत्रों का अर्थ आचार्य शंकर ने भी भेदपरक ही किया है। साम्प्रदायिक विद्वानों का कहना है, कि आचार्य का तात्पर्य व्यवहार दशा में भेद का निर्देश करना है, जीव के मुक्त हो जाने पर वह स्थिति नहीं रहती, उस परमार्थ अवस्था में जीव-ब्रह्म की एकता निःसन्दिग्ध है। पर ब्रह्म सूत्रों के अनुसार ही आचार्य शंकर ने स्वयं इस बात को नहीं माना है। जीवात्मा मुक्त हो जाने पर भी जगद्रचना आदि व्यापार में कभी ब्रह्म के स्तर पर नहीं आता, इस तथ्य को सूत्रकार के अतिरिक्त भाष्यकार आचार्य शंकर ने भी स्वीकार किया है। तब भेद प्रतिपादक सूत्रों में केवल व्यवहार दशा का निर्देश है, यह कथन सर्वथा निराधार होजाता है। इस विषय में वेदान्त के निम्नलिखित सूत्रों को देखा व विचारा जा सकता है।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १ । १ । १६ ॥
भेदव्यपदेशाच्च ॥ १ । १ । १७ ॥
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ १ । २ । २२ ॥
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १ । १ । २० ॥
भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ १ । १ । २१ ॥
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ १ । २ । ११ ॥
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ १ । २ । ३ ॥
कर्मकर्त्तृव्यपदेशाच्च ॥ १ । २ । ४ ॥
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १ । २ । १८ ॥
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ १ । २ । २० ॥
जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ ४ । ४ । १७ ॥

निगमन

उक्त वेदान्त सूत्रों के आधार पर स्वरूप से ही जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है। उपक्रम और उपसंहार अर्थात् जगत् का प्रारम्भ और प्रलय भी ब्रह्म में बताकर अद्वैत की सिद्धि संभव नहीं। कारण यह है, कि वेदादि

सत्यशास्त्रों में ब्रह्म को उत्पाद-विनाश रहित प्रतिपादन किया है। यदि ब्रह्म ही जगद्रूप में प्रकट होता है, उसी में यह जगत् लीन होता है, यह माना जाय, तो यह मानना वेद विरुद्ध होगा। ब्रह्म निर्विकार, अपरिणामी, शुद्ध, सनातन, निर्भ्रान्तत्व आदि विशेषण युक्त माना गया है, उसमें विकार, उत्पत्ति और अज्ञान आदि का सम्भव किसी प्रकार नहीं हो सकता। प्रलय काल में ब्रह्म,जीव और जगत् का मूल कारण उपादान प्रकृति बराबर बने रहते हैं। फलतः उपक्रम-उपसंहार के आधार पर अद्वैत की सिद्धि सम्भव नहीं। शांकरमत की इस प्रकार की सब कल्पना असत्य एवं निराधार हैं।

सत्यार्थ प्रकाश की महत्ता

[प्रकाशचन्द्र कविरत्न]

हो वर वेद से वञ्चित आर्य,
लगाते गप्पाष्टक गर्त्त में गोता।
सत्य, असत्य का पारखी लाखों में,
होता कोई पटु पाठक, श्रोता।
आश पराई सदा करते, जिमि,
पिञ्जर-बद्ध पराश्रित तोता।
चेतना आती न भारत में, यदि,
ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश न होता।

कोटि-कोटि जनगण-जीवन-सुधारक है,
परम प्रचारक सुमति, सत्य-क्रान्ति का।
विविध मतों का है समीक्षक भी जिससे कि,
सत्य का प्रसारण, निवारण हो भ्रान्ति का।
वैदिक-सिद्धान्त-प्रतिपादित, पुनीत प्रिय,
पाठ ये प्रत्येक को पढ़ाता ऐक्य शान्ति का।
भारत का भाग्योदय करने महर्षि का ये,
सत्यार्थ-प्रकाश बना अग्रदूत क्रान्ति का।

मूर्ति पूजा विवेचन

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

o o o

भारत जैसे उन्नत, सब विधि सम्पन्न राष्ट्र के पतन का बड़ा कारण है मूर्तिपूजा। अज्ञान, अन्धकार, अंध-विश्वास गुरुडम की यह पहली सीढ़ी मनुष्य को लक्ष्य से भटकाने का प्रबल साधन है। प्रसिद्ध विचारक और विद्वान् लेखक ने सरल, सफल और हृदयग्राही ढंग से इस "विष" को छोड़ने की प्रेरणा की है। —सम्पादक

o o o

प्रश्न—देखो! वेद अनादि हैं, उस समय मूर्ति का क्या काम था? क्योंकि पहले तो देवता प्रत्यक्ष थे! यह रीति तो पीछे से तन्त्र और पुराणों से चली है। जब मनुष्यों का ज्ञान और सामर्थ्य न्यून हो गया तो परमेश्वर को ध्यान में नहीं ला सके, और मूर्ति का ध्यान तो कर सकते हैं, इस कारण अज्ञानियों के लिये मूर्ति पूजा है। क्योंकि सीढ़ी-सीढ़ी से चढ़े तो भवन पर पहुँच जाय। पहली सीढ़ी छोड़कर ऊपर जाना चाहे तो नहीं चढ़ सकता। इसलिये मूर्ति प्रथम सीढ़ी है। इसको पूजते-पूजते जब ज्ञान होगा और अन्तःकरण पवित्र होगा तब परमात्मा का ध्यान कर सकेगा। जैसे लक्ष्य का मारने वाला प्रथम स्थूल लक्ष्य में तीर, गोली या गोला आदि मारता-मारता पश्चात् सूक्ष्म में भी निशाना मार सकता है वैसे स्थूल मूर्ति की पूजा करता-करता पुनः सूक्ष्म ब्रह्म को भी प्राप्त होता है। जैसे लड़कियां गुड़ियों का खेल तब तक

करती हैं कि जब तक सच्चे पति को प्राप्त नहीं होतीं, इत्यादि प्रकार से मूर्ति-पूजा करना दुष्ट काम नहीं ।

उत्तर—जब वेदविहित धर्म और वेदविरुद्धाचरण में अधर्म है तो पुनः तुम्हारे कहने में भी मूर्ति पूजा करना अधर्म ठहरा । जो-जो ग्रन्थ वेद के विरुद्ध हैं, उन उन का प्रमाण करना जानो नास्तिक होना है । सुनोः—

नास्तिको वेदनिन्दकः ॥१॥ [मनुः २।११]
यो वेद वाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥२॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥३॥
मनु० अ० १२[९५-९६]

मनु जी कहते हैं कि जो वेदों की निन्दा अर्थात् अपमान, त्याग, विरुद्धाचरण करता है वह नास्तिक कहाता है ॥१॥ जो ग्रन्थ वेदबाह्य, कुत्सित पुरुषों के बनाये संसार को दुःख सागर में डुबाने वाले हैं वे सब निष्फल, असत्य, अन्धकार रूप, इस लोक और परलोक में दुःखदायक है ॥२॥ जो इन वेदों के विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं उनका मानना निष्फल और झूठा है ॥३॥ इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर जैमिनि महर्षि पर्यन्त का मत है कि वेदविरुद्ध को न मानना किन्तु वेदानुकूल ही का आचरण करना धर्म है वे क्यों ? वेद सत्यार्थ का प्रतिपादक है । इससे विरुद्ध जितने तन्त्र और पुराण हैं, वेदविरुद्ध होने से झूठे हैं जो कि वेद से विरुद्ध पुस्तकें हैं, इन में कही हुई मूर्ति पूजा भी अधर्मरूप है । मनुष्यों का ज्ञान जड़ की पूजा से नहीं बढ़ सकता किन्तु जो कुछ ज्ञान है वह भी नष्ट हो जाता है । इसलिए ज्ञानियों की सेवा-संघ से ज्ञान बढ़ता है, पाषाणादि से नहीं । क्या पाषाणादि मूर्ति पूजा से परमेश्वर को ध्यान में कभी ला सकता है ? नहीं नहीं मूर्तिपूजा सीढ़ी नहीं, किन्तु एक बड़ी खाई है जिस में गिरकर चकना चूर हो जाता है । पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता किन्तु उसी में मर जाता है । हाँ । छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान योगियों के संग से सद्विद्या और सत्यभाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियां हैं । जैसे ऊपर घर में

जाने की निःश्रेणी होती है। किन्तु मूर्तिपूजा करते-करते ज्ञानी तो न हुआ प्रत्युत सब मूर्तिपूजक अज्ञानी रहकर मनुष्य जन्म व्यर्थ खोकर के बहुत २ से मर गये और जो अब हैं वा होंगे वे भी मनुष्य जन्म के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्तिरूप फलों से विमुख होकर निरर्थक नष्ट हो जायेंगे। मूर्तिपूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं किन्तु धार्मिक विद्वान् और सृष्टि विद्या है। इसको बढ़ाता-बढ़ाता ब्रह्म को भी पाता है। और मूर्ति गुड़ियों के खेलवत् नहीं किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास सुशिक्षा का होना गुड़ियों के खेलवत् ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। सुनिये! जब अच्छी शिक्षा और विद्या को प्राप्त होगा तब सच्चे स्वामी परमात्मा को भी प्राप्त हो जायगा।

(सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११)

उपासकों के दो वर्ग हैं। एक जो मूर्ति पूजा को उपासना का साधन समझते हैं और दूसरा वह वर्ग है जो मूर्तिपूजा को न केवल ईश्वरोपासना का ही बाधक समझता है अपितु सब प्रकार की मनुष्य की उन्नति का घोर बाधक मानता है।

ऋषि दयानन्द ने ऊपर दिये प्रश्न और उत्तर में समासरूप से दोनों पक्षों की युक्तियों को बड़ी उत्तमता से वर्णन कर दिया है। इनमें उन सब युक्तियों का समावेश है जो समय-समय पर मूर्तिपूजक विद्वान दिया करते हैं, आधुनिक काल में मूर्तिपूजा के अभ्यस्त कुछ कुछ साइंस और दर्शन के सुविज्ञ भी अपनी चिरकाल की प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर मूर्तिपूजा को संसार में जीवित रखने के लिए बाल की खाल निकालते पाये जाते हैं। अधिकांश पुजारियों की जीविका ही मूर्तिपूजा पर चलती है। ये पुजारि न केवल सच्ची पूजा (ईश्वरोपासना) के ही 'अरि' अर्थात् शत्रु हैं अपितु स्वयं निठल्ला जीवन व्यतीत करने और मूर्तिपूजकों की कमाई को अनुचित रीति से खाने के कारण मानवसमाज के भी वैरी हैं। इसलिए मूर्तिपूजा केवल अज्ञानियों के लिए ही नहीं है अपितु बड़े से बड़े विद्वान भी इस कीचड़ में फंसे पाये जाते हैं। स्वामी दयानन्द से इसको खाई कहा है। यह सत्य ही है, इसमें चकनाचूर होते स्वामी दयानन्द ने भी बड़े-बड़े पण्डितों को देखा और आप भी देख सकते हैं। किसी मन्दिर में चले जाइये-बड़े-बड़े विद्वान प्रोफेसर, जज, मिनिस्टर, संस्कृतज्ञ,

महावैयाकरण, नैयायिक, वेदान्ती, याज्ञिक, वकील-बैरिस्टर नंगे पैरों, हाथों में माला लिए उसी प्रकार मूर्ति के समक्ष दण्डवत् करते पाये जायेंगे जैसे गाँवों के अपढ़ अज्ञानी। यदि मूर्तिपूजा ब्रह्म प्राप्ति की पहली सीढ़ी होती तो आज इन वृद्ध और समृद्ध जनों को पत्थरों के समक्ष सिर नवाने की आवश्यकता न होती, आज बड़े-बड़े महापुरुषों की अस्थियां गंगा में प्रवाहित होने के लिये आती हैं कि गंगा माई उनको स्वर्ग पहुँचा देगी। स्वामी दयानन्द ने तो जड़ गंगा द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा नहीं की थी। क्या काशी के महापण्डित जिनको अपनी परा और अपरा विद्याओं का गर्व है विश्वनाथ की मूर्ति के समक्ष माथा टेकते हुये गुड़ियों की उपमा को भूल जाते हैं? क्या कोई प्रौढ़ा स्त्री छोटी लड़कियों की भाँति अपने पति के स्थान में और उसके समक्ष एक गुड्डे को आरोपित करना पसन्द करेगी? क्या समग्र आयु मूर्तियां पूजते भी अभी इनको इतना ज्ञान नहीं हुआ कि जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे देवताओं की जड़ मूर्तियों का सहारा तकते हैं, उनके भवन में, उन के शरीर और मन में भी ईश्वर विद्यमान है। मूर्ति पूजा रूपी खाई में जो एक बार गिरा उसका निकलना कठिन है, यही तो ऋषि दयानन्द ने कहा था। जिन बौद्ध और जैनियों ने ईश्वर के कर्तृत्व से भी इनकार कर दिया, वह भी मूर्ति पूजा के गढ़े में पड़कर जैन मन्दिरों और बौद्ध मठों में जड़ मूर्तियों में मान्यता मानते देखे जाते हैं। जो ईसाई और मुसलमान मूर्ति भंजक कहलाना पसन्द करते हैं वह भी अनेक कष्ट सहकर मक्के के मन्दिर में काले पत्थर को चूमते और मन्दिर की परिक्रमा करते तथा ईसा आदि की मूर्तियाँ पूजते पाये जाते हैं। इसका एक मुख्य कारण यही है कि उन्होंने मूर्ति पूजा को ब्रह्म उपासना का साधन या स्थानापन्न समझ रक्खा है। वे समझते हैं कि जब पत्थर का दर्शन ही देव दर्शन है तो देवदर्शन के लिये योग का साधन व्यर्थ है।

स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि ब्रह्म-प्राप्ति की पहली सीढ़ी है अक्षराभ्यास अथवा विद्या-प्राप्ति। इस अर्थ में तो प्रत्येक छोटी-बड़ी पाठशाला मन्दिर है। वहाँ ज्ञान की वृद्धि होती है, प्रत्येक विज्ञान-प्रयोगशाला शिवालय है क्योंकि यहाँ परम कल्याण के दाता शिव के नियमों का परिज्ञान होता है।

जितना धन और श्रम एक छोटे देवालय पर होता है, उतना एक पाठशाला के लिए पर्याप्त है। रामेश्वर या श्रीरङ्गम के मन्दिर पर जितना व्यय होता है उतने से विश्वविद्यालय चल सकते हैं। परन्तु जनता तथा नेताओं की शक्ति का परिशोषण तो मूर्तिपूजा कर रही है। जनता की गाढ़ी कमाई तो पाषाणमय कल्पित देवी देवताओं के शृङ्गार और उनके खाऊ पुजारियों की उदरपूर्ति में ही लग जाती है। एक बार एक दक्षिणी प्रसिद्ध मन्दिर के एक अध्यक्ष ने मुझ से प्रश्न किया था कि अपने हमारे विशाल मन्दिरों को देखकर क्या अनुमान किया। मैंने उत्तर दिया, "They are physical dark morally dark and socially dark. अर्थात् यह प्राकृतिक-तमोमय, आचारतमोमय और सामाजिक अन्धकार से भरपूर हैं। उन्होंने पूछा कैसे ?" मैंने कहा, "प्रतिमा-ग्रह में जब तक दीपक न जलाओ, कुछ दिखाई नहीं पड़ता। प्रतिमाओं के निकट रहने वाले पुजारी भ्रष्टाचार के लिये प्रसिद्ध हैं और अस्पृश्यता का तो इतना प्राबल्य है कि कोई उपासक ब्रह्म-प्राप्ति तो क्या साधारण मूर्तिदर्शन भी नहीं कर सकता।" दरिद्र से दरिद्र के पास ईश्वर है परन्तु मूर्तियों के स्थान से तो ईश्वर अत्यन्त दूर है।

स्वामी दयानन्द ने मूर्ति पूजा में सोलह दोष गिनाये हैं। यह सब देशों और युगों की मूर्ति पूजा में पाये जाते हैं, सब देश के विद्वानों ने मूर्ति पूजा के विरुद्ध आवाज उठाई। जौन विकलिफ ने जो ईसाइयों की मूर्तिपूजा का पहला विरोधी था प्रायः उसी प्रकार के दोष बताये हैं जो सत्यार्थप्रकाश में दिये हुये हैं। गुरुनानक आदि ने मूर्ति पूजा का विरोध किया। हिन्दुओं में एक पद प्रचलित है—"आतमा में गंग बहे, क्यों न तू न्हाउ रे।' परन्तु इन सुधारकों ने स्वामी दयानन्द के समान रोग के मूल कारण पर प्रहार नहीं किया। लूथर ने मूर्ति खण्डन किया परन्तु ईसा के अवतार का खण्डन नहीं किया सन्त लोगों के शिष्य गुरुओं की मूर्तियों को पूजते रहे। जहाँ-जहाँ अवतारवाद और गुरुडम है, वहाँ-वहाँ मूर्तिपूजा रहेगी। स्वामी दयानन्द को मूर्ति पूजा का इतना कटु अनुभव था कि न उन्होंने मठ बनाया। न अपनी समाधि या स्मारक बनाने की अनुमति दी। आर्य समाज के नेताओं को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये।

बहुत से लोग भक्ति और श्रद्धा के आवेश में आकर ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में अनेक लोकोत्तर चमत्कारों को सम्बद्ध करते हैं और यह प्रवृत्ति बहुत सी घटनाओं को गढ़ने में लगी हुई है। ऐसे लोगों का विचार है कि ऐसा करने से आर्य समाज का प्रचार बढ़ेगा। संभव है कि उनकी आशायें पूरी हो जायें। परन्तु मूर्ति पूजा के प्रचार में इससे सहायता मिलेगी। जिस रहस्य-वाद का इस युग में प्रचार होना आरम्भ हुआ है उसको देखते यह प्रतीत होता है कि २०६३ ई० तक यह नौबत आजायगी कि आर्या ललनाएं अपने बच्चों को टंकारा या अजमेर में मुण्डन के लिए ले जाया करेंगी और दयानन्द बाबा से मिन्नतें माँगा करेंगी। बर्मा और स्याम के बौद्ध मन्दिरों में मैंने बड़े-बड़े बौद्धों को ऐसा करते देखा है। यदि ऐसा हुआ तो स्वामी दयानन्द की सम्पूर्ण तपस्या निरर्थक हो जायगी और स्वामी दयानन्द के विषय में अगले सुधारक वैसी ही आलोचना करेंगे जैसी स्वामी दयानन्द ने 'नारायणमत' आदि की है। आर्य समाज के अगले नेताओं की चाल ढाल ही बता सकेगी कि नदी का प्रवाह किधर को जाता है।

स्वामी विवेकानन्द आदि आधुनिक विद्वानों तथा कवीन्द्र टैगोर आदि के कलात्मक ग्रंथों के आधार पर कुछ मूर्तिपूजा के संपोषक लोगों ने कुछ नवीन युक्तियाँ भी गढ़ली हैं जिनका मूर्तिपूजा से केवल दूरस्थ सम्बन्ध है और उनसे न तो ईश्वर प्राप्ति में सहायता मिलती है न मूर्तिपूजा के दोषों का ही निराकरण होता है। न इनसे उच्च कलाओं का ही उपयोग होता है। जगन्नाथपुरी के मन्दिर की अश्लील मूर्तियां कलात्मक होते हुये भी आचार-पतन का कारण होती हैं। वह कलाशास्त्र भी क्या जो आचार-शास्त्र या जीवन के अन्य उपयोगी विभागों से समन्वित न हो सके। सारांश यह है कि मूर्ति-पूजा एक भयानक रोग है। इससे मानव जाति को लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की यातनायें झेलनी पड़ी हैं। विद्वानों को चाहिये कि इस रोग के उन्मूलन का उपाय करते रहें।

*

पितृयज्ञ—श्राद्ध और तर्पण

श्री जगदेवसिंह 'सिद्धान्ती'

o o o

श्राद्ध किस का करें, जीवित का या मृतक का ? इस प्रश्न के उत्तर में पौराणिक पक्ष है कि मृतक का श्राद्ध करो और जीवित की उपेक्षा। आर्यसमाज जीवित पितरों की श्रद्धा-भक्ति की ओर सभी को प्रेरित करता है। विद्वान् लेखक ने विषय पर शास्त्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। —सम्पादक

o o o

'पितृ यज्ञ के दो भेद हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध ।

येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितृंश्च तर्प्पयन्ति सुखयन्ति तत् तर्प्पणम् तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् ।

तर्पण उसे कहते हैं जिस कर्म से विद्वान् रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं। उसी प्रकार उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, सो श्रद्धा कहाता है।

तदेतत्कर्म विद्वत्सु विद्यमानेष्वेव घटते, नैव मृतकेषु । कुतः ? तेषां सन्निकर्षाभावेन सेवनाशक्यत्वात् । मृतकोद्देश्येन यत्क्रियते नैव तेभ्यस्तत्प्राप्तं भवतीति व्यर्थापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात्सर्वमेतत्कर्त्तुं शक्यते ।

यह तर्प्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं, क्योंकि उन की प्राप्ति और उन का प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है।

इसी से उन की सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती किन्तु जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उन को कभी नहीं मिल सकता। इसलिये मृतकों को सुख पहुँचाना सर्वथा असम्भव है, इसी कारण विद्यमानों के अभिप्राय से तर्प्पण और श्राद्ध वेद में कहा है। सेवा करने योग्य और सेवक अर्थात् सेवा करने वाले इनके प्रत्यक्ष होने पर यह सब काम हो सकता है।'

—पंचमहायज्ञविधि ॥

"पितृयज्ञ—अर्थात् जिस में देव जो विद्वान् ऋषि जो पढ़ने पढ़ाने हारे पितर माता पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परम योगियों की सेवा करनी।

श्राद्ध अर्थात् 'श्रत्' सत्य का नाम है 'श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा श्रद्धया यत्क्रियते तच्छ्राद्धम्' जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उस को श्रद्धा और जो श्रद्धा से कर्म किया उस का नाम श्राद्ध है और 'तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्' जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता पिता आदि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जायें उसका नाम तर्पण है, परन्तु यह जीवितों के लिए है मृतकों के लिए नहीं।

'विद्वाꣳसो हि देवाः' यह शतपथ' ब्राह्मण का वचन है. जो विद्वान् हैं उन्हीं को देव कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों के जानने वाले हों उनका नाम ब्रह्मा, जो उन से न्यून हों उनका भी नाम देव अर्थात् विद्वान् है, उनके सदृश उनकी विदुषी स्त्री ब्राह्मणी देवी और उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों उनकी सेवा करना है, उसका नाम श्राद्ध और तर्पण है।

कोई भद्र पुरुष वा वृद्ध हों उन सब को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना है अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनका आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उन की सेवा करनी वह श्राद्ध और तर्पण कहाता है।'

—सत्यार्थप्रकाश–४र्थ समुल्लास ॥

(प्रश्न) "गया में श्राद्ध करने से पितरों का पाप छूट कर वहां के श्राद्ध के पुण्य प्रभाव से पितर स्वर्ग में जाते और पितर अपना हाथ निकाल कर पिण्ड लेते हैं क्या यह भी बात झूठी है?

(उत्तर) सर्वथा झूठ, जो वहां पिण्ड देने का वही प्रभाव है तो जिन पण्डों को पितरों के सुख के लिए लाखों रुपये देते हैं उन का व्यय गया वाले वेश्यागमनादि पाप में करते हैं, वह पाप क्यों नहीं छूटता और हाथ निकालना आज कल कहीं नहीं दीखता विना पण्डों के हाथों के। यह कभी किसी धूर्त्त ने पृथिवी में गुफा खोद उस में एक मनुष्य बैठाय दिया होगा पश्चात् उसके मुख पर कुश बिछा पिण्ड दिया होगा और उस कपटी ने उठा लिया होगा। किसी आंख के अन्धे गांठ के पूरे को इस प्रकार ठगा हो तो आश्चर्य नहीं।"

"श्राद्ध, तर्पण, पिण्ड दान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता, किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोप जी के घर, उदर और हाथ में पहुँचता है, जो वैतरणी के लिये गोदान लेते हैं वह तो पोप जी के घर में अथवा कसाई आदि के घर में पहुंचती है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती पुनः किस की पूंछ पकड़ कर तरेगा और हाथ तो यहीं जलाया या गाड़ दिया तो फिर पूंछ को कैसे पकड़ेगा ?" —सत्यार्थप्रकाश—११ समुल्लास ॥

"ये सत्यविज्ञानदानेन जनान् पान्ति रक्षन्ति ते पितरो विज्ञेया :—

जो सत्यविज्ञानदान से जनों का पालन करते हैं वे पितर हैं।

मनु ने भी कहा है—

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्राँश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहाँश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥

—मनु० अध्याय ३, श्लोक २८४

पितरों को वसु, पितामहों को रुद्र और प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं, यह सनातन श्रुति है।" —पंचमहायज्ञ विधि ॥

"आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

—यजुर्वेद अ० १९। मं० ५८ ॥

ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः, तथा होमकरणार्थं, शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते पितरो विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति (आयन्तुः नः) ते अस्मत्समीपमा-

गच्छन्तु । वयं च तत्समीपं नित्यं गच्छेम । (पथिभिर्देव०) तान्विद्वन्मार्गैर्ह्यन्तिपथमागतान् दृष्ट्वा ऽभ्युत्थाय, हे पितरो ! भवन्त आयन्त्वित्युक्त्वा, प्रीत्या ऽऽसनादिकं निवेद्य, नित्यं सत्कुर्याम । (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो) हर्षन्तो अस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥

पितृ शब्द से सब के रक्षक श्रेष्ठ स्वभाव वाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है, क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है वैसी दूसरे प्रकार से नहीं । इसलिए जो विद्वान् लोग ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करने वाले हैं उनको 'पितर' कहते हैं । उनके सत्कार के लिए मनुष्य-मात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देख कर अभ्युत्थान अर्थात् उठ के प्रीतिपूर्वक कहें कि आइये, बैठिये, कुछ जल-पान कीजिये और खाने-पीने की आज्ञा दीजिए। पश्चात् जो-जो बातें उपदेश करने के योग्य हैं सो-सो प्रीतिपूर्वक समझाइए कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्या युक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहलावें और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर । आपके अनुग्रह (सोम्यासः) जो शील स्वभाव और सबको सुख देने वाले लोग, (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुण वाले भौतिक अग्नि को अलग-अलग करने वाली विद्युत रूप विद्या को यथावत् जानने वाले हैं, वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित हो के (अवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रक्षा करें तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिए भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब-जब वे आवें वा जावें तब-तब उन उनको उत्थान, नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रखें तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें । ऐसे सब लोग छल और लोभादिरहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्य व्यवहार रखें । (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं । एक देवयान और दूसरा पितृयान अर्थात् जो विद्या मार्ग है वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहाता है । सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें।"

"पदार्थ :—(आ) (यन्तु) आगच्छन्तु (नः) अस्माकम् (पितरः) अन्नविद्यादानेन पालका जनकाध्यापकोपदेशकाः (सोम्यासः) सोम इव शमदमादिगुणान्विताः (अग्निष्वात्ताः) गृहीताग्निविद्याः (पथिभिः) मार्गैः (देवयानैः) दवा आप्ता विद्वांसो यान्ति यैस्तैः (अस्मिन्) वर्त्तमाने (यज्ञे) उपदेशाध्यापनाख्ये (स्वधया) अन्नाद्येन (मदन्तः) आनन्दन्तः (अधि) अधिष्ठातृभावे (ब्रुवन्तु) उपदिशन्त्वध्यापयन्तु वा (ते) (अवन्तु) रक्षन्तु (अस्मान्) पुत्रान् विद्यार्थिनश्च ॥

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ॥

जो (सोम्यासः) चन्द्रमा के तुल्य शान्त शमदमादि गुणयुक्त(अग्निष्वात्ताः) अग्न्यादि पदार्थ विद्या में निपुण (नः) हमारे (पितरः) अन्न और विद्या के दान से रक्षक जनक अध्यापक और उपदेशक लोग हैं (ते) वे (देवयानैः) आप्त लोगों के जाने आने योग्य (पथिभिः) धर्म युक्त मार्गों से (आ, यन्तु) आवें (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पढ़ाने उपदेश करने रूप व्यवहार में वर्त्तमान होके (स्वधया) अन्नादि से (मदन्तः) आनन्द को प्राप्त हुए (अस्मान्) हमको (अधि, ब्रुवन्तु) अधिष्ठाता होकर उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी (अवन्तु) सदा रक्षा करें।"

टिप्पणी—उपर्युक्त सम्पूर्ण सन्दर्भ ऋषि दयानन्द का ही है। इससे स्पष्ट है कि जीवित पितरों का ही श्राद्ध और तर्पण होता है, मृतकों का नहीं हो सकता। इसी वेद मन्त्र में १—आयन्तु २—अधिब्रुवन्तु और ३—अवन्तु तीन क्रियाएं पितरों के सम्बन्ध को बतलाती हैं—

आयन्तु = आवें।

अधिब्रुवन्तु = अधिकार पूर्वक उपदेश करें।

जीवित पितर ही आ जा सकते हैं, उपदेश दे सकते हैं। पढ़ा सकते हैं- स्पष्ट है कि यहां जीवित पितरों से प्रार्थना की जा रही है। मृतक न आ जा सकते, न उपदेश दे सकते, न ही रक्षा कर सकते।

२—कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥

मनु० अ—३, श्लोक ८२

अर्थ—(प्रीतिम्—आवहन्) प्रसन्नता पूर्वक गृहस्थी (पितृभ्यः) पितरों के लिए अन्न, जल, दूध, खीर, मूल और फलों (सब से अथवा इनमें से किन्हीं पदार्थों) द्वारा (अहः+अहः) प्रतिदिन (श्राद्धम्) श्राद्ध (कुर्यात्) करे।

मनुस्मृति के इस वचन में प्रतिदिन पितरों का श्राद्ध करना कहा है, परन्तु मृतकों का श्राद्ध मानने वाले वर्ष में आश्विन मास के १५ दिन में ही श्राद्ध करने को कहते हैं और करते हैं। परन्तु मनु के उपर्युक्त वचन से यह मृतक श्राद्ध वेद एवं युक्तिविरुद्ध है अतः त्याज्य है। मृतक श्राद्ध मानने वालों को यह भी मालूम नहीं कि आश्विन मास में ही श्राद्ध का विशेष विधान क्यों है? वास्तविकता यह है कि नियुक्त १५ दिनों में भी जीवित पितरों के श्राद्ध का विधान है।

चतुर्मास के वर्षा-ऋतु में वनस्थ पितर लोग ग्रामों में आजाते थे। ग्राम से बाहर ठहर जाते थे। वर्षा ऋतु के अन्त में फिर वे वनस्थ महानुभाव पितर जंगल को जाने लगते हैं तब गृहस्थी उनका १५ दिन तक खूब सत्कार करते हैं और उन से उपदेश ग्रहण करते हैं। आधे आश्विन के पश्चात् मार्ग स्वच्छ हो जाते हैं और वनों जंगलों में गमनागमन सुविधा से हो जाता है।

इसी कारण इन दिनों में पितरों की विशेष पूजा गृहस्थ करते हैं, परन्तु यह पूजा जीवितों की ही हो सकती है। मृतकों में 'पितर' शब्द के गुण घटते ही नहीं।

३ वेद और मनुस्मृति नें पिता, पितामह और प्रपितामह इन तीन की ही 'पितृ' संज्ञा कही गई हैं। ५०—७५—१०० वर्ष तक की आयु वाले क्रमशः पिता—पितामह और प्रपितामह हो सकते हैं और जीवित रह सकते हैं। प्रपितामह से आगे 'पितर' संज्ञा नहीं बतलाई गई। उस से सिद्ध है कि श्राद्ध जीवित पितरों के लिए ही होता है। मृतकों के लिए नहीं।

कोई शङ्का करे कि प्रपितामह से आगे सभी पीढ़ियां प्रपितामह ही कहला सकती हैं, तब केवल तीन वर्गों का ही श्राद्ध नहीं है अपितु इन से पूर्वजों का भी हो सकता है। इस का उत्तर स्पष्ट है कि इस प्रकार सृष्टि के आदि तक

यह प्रवाह जा सकता है जो कि अनवस्था दोष पैदा करता है और असम्भव है तथा मृतक श्राद्ध मानने वालों को भी अमान्य है।

अतः सिद्ध है कि जीवित पितरों का ही श्राद्ध और तर्पण होता है, मृतकों के लिए नहीं। मृतकों में पितृ संज्ञा घटती ही नहीं। मृतक रक्षा कर ही नहीं सकते। रक्षा तो विद्यमान ही कर सकता है।

●

पाखंडों की लाश

*

भारत की गौरव गरिमा सुप्त पड़ी थी,
ऋषियों की परम्परा की लुप्त कड़ी थी,
पुण्य धर्म था शेष यहां बस कहने में,
सुख समझा था जन-जन ने दुःख सहने में।

*

ऐसे में दयानन्द ने ज्योति दिखायी,
वेद ज्ञान ज्योतित मंजुल राह बतायी,
खंड-खंड कर अधर्म जय ध्वजा उठायी,
जाग उठी नव जीवन पा तरुणायी।

*

निशा निराशा की दूर हुई थी मन से,
धर्म फैलने लगा उभर नूतन बल से,
युग बदला, पाखंडों की लाश पड़ी थी
नए चरण धर कर जनता आज बढ़ी थी।

—भा०

तीर्थ

श्री रामचन्द्र 'जावेद' एम० ए०

○ ○ ○

'तीर्थ' राष्ट्र की आधारशिला हैं। 'तीर्थ' देश के कलंक हैं। यह दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं, किन्तु हैं सत्य। सच्चे तीर्थ कल्याणकारी और नकली पतन की ओर ले जाने के साधन हैं। आवश्यकता है कि जन-मन में 'तीर्थ' महत्व स्थापित किया जाए।

—संपादक

○ ○ ○

हमारा देश भारत तीर्थों का घर है। जितने तीर्थ स्थान-हमारे देश में हैं, उतने शायद ही किसी दूसरे देश में हों। फिर पौराणिक विचारधारा के अनुसार हर तीर्थ की अपनी विशेषता है। गया में श्राद्ध करने से पितरों के पाप दूर हो जाते हैं और वे स्वर्गलोक में चले जाते हैं। हरिद्वार, हर की पौड़ी पर स्नान करने से सब प्रकार के पाप छूट जाते हैं। काशी के सम्बन्ध में कहावत है कि "अन्य क्षेत्रे कृतं पापं काशी क्षेत्रे विनश्यति" अर्थात् किसी भी क्षेत्र में किये हुए पाप काशी यात्रा से छूट जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म पुराण में लिखा है कि जो व्यक्ति सैंकड़ों हजारों कोस से भी गंगा-गंगा कहता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

गंगा गंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं सः गच्छति॥

इस प्रकार हमारे यहाँ अनेक ऐसे तीर्थ हैं जो अपने विशेष चमत्कार के कारण प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिये जगन्नाथपुरी में कलेवर बदलते समय

चन्दन का टुकड़ा समुद्र में से अपने आप आ जाता है। चूल्हे पर सात हाण्डे धरने से ऊपर ऊपर के पहले पकते हैं और रथ आप से आप चलता है। सोमनाथ जी के मन्दिर में सोमनाथ जी की मूर्ति भूमि और आकाश के बीच बिना किसी सहारे के खड़ी है। ज्वालामुखी की ज्वाला के समय में प्रसिद्ध है कि मुसलमान सम्राटों ने उस पर पानी की नहर छुड़वाई और लोहे के तवे जुड़वाये थे फिर भी ज्वाला नहीं बुझी थी। और न ही रुकी थी और फिर सबसे वड़ी बात यह है कि प्रसाद देने पर ज्वाला भी आधा खाती और आधा छोड़ देती है। अमरनाथ जी में आप से आप हिमालय से कबूतर के जोड़े आते हैं और सब को दर्शन दे कर चले जाते हैं। इसी प्रकार प्रयागराज, कुरुक्षेत्र, बद्रीनारायण आदि अनेक तीर्थ हैं। जिन पर कि आज के जागृत तथा वैज्ञानिक युग में विश्वास नहीं किया जा सकता।

कह नहीं सकते कि इन तीर्थों की यात्रा के लिए भारत के कितने लोग कहाँ से कहाँ जाते हैं और धर्म की अगाध श्रद्धा और मुक्ति की लालसा तथा अनेक अभीष्ट मनोरथों की सिद्धि के लिये कितने कष्ट सहन करते हैं। कम का तो अनुमान ही नहीं यदि भारत सरकार अनुसन्धान कराये कि भारत भर के सभी तीर्थों में कितने यात्री एक वर्ष में पहुँचते हैं और उनका तथा स्वयं हमारी सरकार का कितना उन पर धन लगता है तो हमारा अनुमान ही नहीं विश्वास है कि सरकार अपनी एक पंचवर्षीय योजना पर जो कुछ व्यय करती है लगभग उतनी राशि केवल तीर्थ-यात्रा पर भारत के अन्धविश्वासी धर्मप्रेमी लोग प्रति वर्ष खर्च करते हैं और फिर परमात्मा न करे यदि जनता की भीड़-भाड़ में कोई दुर्घटना हो जाय या कोई महामारी फूट निकले तो संकट की कोई सीमा नहीं। कुम्भ के मेलों पर हुई पिछली किसी एक दुर्घटना का ध्यान आते ही हमारा हृदय कांप उठता है।

निश्चय ही यह अन्धविश्वास है और साधारण जनता की दुःख से छूटने की स्वाभाविक भावना से खिलवाड़ है। जिस प्रकार एक रोगी अपने स्वास्थ्य लाभ के लिए विना सोचे-समझे हर डाक्टर और हर वैद्य के द्वार पर जाता रहता है और उसे अपना मसीहा समझता है, ठीक उसी प्रकार अनेक पीड़ा से संतप्त आत्मायें पापों से छुटकारा पाने अथवा सांसारिक

सुख सामग्री की चाह में व्याकुल आत्मायें अपनी अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति के लिये एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ की ओर भटकती रहती हैं। किन्तु भारत की भोली भाली जनता भूल जाती है कि मनुष्य को अपने किये अच्छे और बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

मानना चाहिए कि तीर्थ द्वारा पाप-नाश के इस सिद्धांत ने संसार में पाप की मात्रा को बढ़ाया है। क्योंकि पाप से छुटकारे का विचार ही नये दुष्कृत्यों और पाप-कर्मों के लिए सबसे बड़ी प्रेरणा है। विचार कीजिये कि जब मुझे यह ज्ञात है कि मेरे वर्ष भर के पाप एक बार के गंगा स्नान से धुल सकते हैं तो मैं वर्ष भर में क्या कमी करूंगा। इसलिए आर्य समाज तीर्थ-यात्रा की वर्तमान परम्परा को सर्वथा निरर्थक समझता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि तीर्थ यात्रायें करने वाले हमारे भाईयों को यदि इन तीर्थ स्थानों के पण्डे पुजारियों और धर्म,कर्म का आडम्बर रचने वाले लोगों की वास्तविक चारित्रिक स्थिति का पता लग जाये तो वे स्वयमेव इन तीर्थों की ओर जाने का कभी विचार भी न करें।

वास्तव में "तीर्थ" के शाब्दिक अर्थ हैं! "जना: यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि" अर्थात् मनुष्य जिससे संसार के दुःख सागर से तर निकले वह तीर्थ है। महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में लिखते हैं कि "जल थल तराने वाले नहीं प्रत्युत डुबो कर मारने वाले हैं।" उनकी सम्मति में "वेद आदि सब शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट सत्य भाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य, अतिथि और माता पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना उपासना, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ ज्ञान विज्ञान आदि शुभ गुण कर्म दुःखों से तारने वाले होने से तीर्थ हैं।"

मौलाना रूप—प्रसिद्ध सूफीकवि हृदय की पवित्रता को तीर्थ मानते हैं। उनका कथन है—

दिल बदस्त आवुर कि हज्जे अकबर अस्त।
अज हजारां बाग यक दिल बेहतर अस्त॥

अर्थात् सहस्रों तीर्थों से मन की पवित्रता ही सब से बड़ा तीर्थ है जो हमारे शुभ कर्मों पर निर्भर है। इसलिये हमारे पुण्य कर्म ही तीर्थ हैं। निश्चय ही आज के स्वतंत्र भारत में जबकि तीर्थ यात्रा के लिये दिन प्रतिदिन सुविधायें बढ़ने के कारण तीर्थ यात्रा प्रणाली जोरों पर है, आर्य समाज और महर्षि दयानन्द की तीर्थ सम्बन्धी विचारधारा के अधिक से अधिक प्रसार की आवश्यकता है।

राष्ट्र गौरव

डा० सूर्यदेव

अन्धकार, अज्ञान, अविद्या का छाया था।
तम का तोम महान्, मनुज के मन भाया था।
अंड-बंड पाखंड, चंड होकर आया था।
अभय, अजस्र, अखंड, अबुध जन भ्रमाया था।
हत भारत भू के भाग में भ्रम का भारी भूत था।
पर प्रभु के अति अनुराग में, निहित दयामय दूत था।
दिनकर दैवी दूत भव्य भारत में आया।
पावन पुण्य प्रसूत, प्रेम का पाठ पढ़ाया।
जागा जगमग लोक, छोड़कर छल की छाया।
हुआ दिव्य आलोक, मिटी मनमोहक माया।
श्रुति "सूर्य" रूप से उदित हो, दयानन्द ऋषि राजता।
शुभ 'सत्य-अर्थ' संवलित हो, पुण्य प्रकाश विराजता।
वह 'सत्यार्थ-प्रकाश हमारा धन साधन है।
वह 'सत्यार्थ-प्रकाश' हमारा जीवन धन है।
वह 'सत्यार्थ प्रकाश' हमारा पण हैं प्रण है।
वह 'सत्यार्थ प्रकाश' आर्य गण पर ऋषि ऋण है।
वह गुरु का आशीर्वाद है, वही हमारा प्राण है।
वह आर्य्य राष्ट्र का नाद है, वही हमारा त्राण है।

पुराणों की अवैदिकता

श्री मुनीश्वरदेव सिद्धान्त—शिरोमणि

o o o

भारत के पतन में सर्वाधिक योगदान दिया पुराणों ने। आर्य-संस्कृति को भ्रांत रूप में प्रसारित किया पुराणों ने। पुराण और वेद परस्पर अमृत-विष की भाँति विरोधी हैं। वेद की प्रतिष्ठा और प्रसार के लिए आवश्यकता है कि पुराणों के विष से हम सावधान हों।

—संपादक

o o o

नवयुग प्रवर्त्तक, वेदोद्धारक, समाज सुधारक महामहिम महर्षि दयानन्द की दिव्य दृष्टि ने यह अनुभव किया था कि 'अष्टादशपुराण' कपोल कल्पित एवं वेदविरुद्ध होने के कारण विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्य हैं। इसके अतिरिक्त जो तथा-कथित विद्वान् 'अष्टादश पुराणानां कर्त्ता सत्यवती सुतः' के अनुसार अष्टादश पुराणों का कर्त्ता महर्षि व्यास को मानते थे अथवा वर्तमान में मानते हैं—उन्हें स्पष्ट शब्दों में चेतावनी पूर्वक कहा कि "जो अठारह पुराणों के कर्ता व्यासजी होते, तो उनमें इतने गपोड़े न होते, क्योंकि शारीरिक सूत्र, योगशास्त्र के भाष्यादि व्यासोक्त ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि व्यास जी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सम्प्रदायी परस्पर विरोधी लोगों ने भागवतादि

नवीन कपोल-कल्पित ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें व्यास जी के गुणों का लेश भी नहीं था। और वेदशास्त्र विरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यास सदृश विद्वानों का काम नहीं, किन्तु यह काम विरोधी, स्वार्थी, अविद्वान्, पामरों का है। इतिहास और पुराण शिव पुराणादि का नाम नहीं, किन्तु (ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति) यह ब्राह्मण और सूत्रों का वचन है। ऐतरेय शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण ही के इतिहास, पुराण, कल्प गाथा और नाराशंसी ये पांच नाम हैं।.........इसलिये सबसे प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों ही में यह सब घटना हो सकती है। इन नवीन कपोल-कल्पित श्रीमद्भागवत, शिवपुराणादि मिथ्या व दूषित ग्रन्थों में नहीं घट सकतीं।

(सत्यार्थ प्रकाश एकादश समु० पृ० २१३)

पुनः पृष्ठ २१५ पर अत्यन्त खिन्न होकर आचार्य लिखते हैं 'वाह रे वाह! भागवत के बनाने वाले लाल बुझक्कड़ क्या कहना तुमको, ऐसी २ मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई, निपट अन्धा ही बन गया।.........धिक्कार है पोप और पोप रचित इस महा असम्भव लीला को जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रखा है, भला इन महाझूठ बातों को वे अंधे पोप और बाहिर-भीतर की फूटी आँखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं वा अन्य कोई "इन भागवतादि पुराणों के बनाने वाले क्यों नहीं गर्भ में ही नष्ट हो गये। वा जन्मते समय मर क्यों न गए!! क्योंकि इन पोपों से बचते तो आर्यावर्त्त देश दुःखों से बच जाता।"

फिर आगे इसी ग्रन्थरत्न के पृष्ठ २१९ पर श्री कृष्ण जी पर पुराणों द्वारा लगाये गये मिथ्याक्षेपों से असहमति प्रकट करते हुए ऋषिवर लिखते हैं:—

"देखो! श्री कृष्ण जी इतिहास महाभारत में अत्युत्तम हैं। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्ण ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा। और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध दही, मक्खन आदि की चोरी और कुब्जा दासी से समागम परस्त्रियों से रास-मण्डल, क्रीडा आदि मिथ्या दोष श्री कृष्ण जी में लगाये हैं।.........जो यह

भागवत न होता तो श्री कृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों कर होती है ?"

इत्यादि उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि अष्टादश पुराण विषसम्पृक्तान्नवत् सर्वथा त्याज्य हैं, इनका प्रचार व्यक्ति, समाज, जाति, देश वा राष्ट्र के हित में अहितकर है। अब थोड़ा सा आगे पुराण शब्द पर भी विवेचन करते हैं। पौराणिक विद्वानों का कहना है कि वेदों में भी पुराणों का उल्लेख है, अतः पुराण भी प्राचीन धर्म ग्रन्थ हैं और धर्माधर्म के प्रसंग में प्रामाणिक हैं। हमारी सम्मति में निराधार हैं, वेदों में 'पुराण' शब्द अवश्य है, परन्तु यह 'भागवत' आदि कपोल-कल्पित पुराण-ग्रन्थों का प्रतिपादक नहीं है। यथा—

१—अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः। ऋ० २।१८।१।।

इस मन्त्र में 'पुराण' पुरातन अर्थ का विज्ञापक है और 'पन्था' का विशेषण है। 'भागवत' आदि पुराणों का बोधक नहीं है।

२—पुनः पुनर्जायमाना पुराणी० ऋ० १।९२।१०।।

प्रस्तुत मंत्र में 'पुराणी' शब्द उषा का विशेषण है, और 'सनातनी' अर्थ का प्रतिपादक है। किसी कल्पित पुराण ग्रन्थ का ज्ञापक नहीं है।

३—अपेत वीत वि च सर्पतातो ये ऽत्रस्थ पुराणा ये च नूतनाः यजु० १२।४५

इस मन्त्र में भी 'पुराणाः' शब्द पितर का विशेषण कहा है, किन्हीं 'भागवत' आदि कपोल-कल्पित ग्रन्थों के लिए किसी भाष्यकार ने विनियुक्त नहीं किया। यहाँ इसका अर्थ 'पूर्वज-वृद्ध ही है।

४—ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। अथर्व ११।७।२४।

इस मंत्र में 'पुराणम्' शब्द 'देहली दीप' न्यायानुसार प्रत्येक वेद की पुरातनता-सनातनता को दिखाता है। किसी 'भागवत' आदि पुराण-ग्रन्थ के लिए नहीं आया, यह निर्विवाद सत्य है।

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेदों में पठित पुराण शब्द विशेषण के रूप में होता है, परन्तु किसी ग्रन्थ विशेष की संज्ञासूचक नहीं है।

इसके अतिरिक्त गीता अ० २ श्लोक २० में—

अजो नित्यः शाश्वतो ऽयं पुराणः।

वचन मिलता है। यहां पर भी 'पुराण' शब्द जीवात्मा की सनातनता के लिए प्रयुक्त हुआ है, किसी कल्पित ग्रन्थ के लिए नहीं आया।

अतः सुतरां सिद्ध हुआ है कि पुराण शब्द से वैदिक ग्रन्थों में अष्टादश पुराणों का कहीं भी उल्लेख व प्रतिपादन नहीं । अतएव दयानन्द जी महाराज की यह धारणा नितान्त निर्भ्रान्त है कि यह १८ पुराण वेद विरुद्ध, कपोल-कल्पित और विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्य हैं अब आगे पुराणों में अवैदिक विचारों का सिंहावलोकन जरा कर लीजिएगा ।

वेद—ईश्वर का स्वरूप बतलाता है:—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः
यजु० अ० ४०।८।।

इसमें ईश्वर को सर्वव्यापक, अशरीवी, नस-नाड़ी के बन्धन से रहित, शुद्ध पवित्र, अनादि और वेद प्रकाशक माना है ।

पुराण:—ईश्वर का स्वरूप यह प्रस्तुत करता है:—

गजेन्द्रवदनं देवं श्वेतवस्त्रं चतुर्भुजम् ।
परशुलगुडं वामे दक्षिणे दण्डमुत्पलम् ।
मूषकस्थं महाकायं शंखकुन्देन्दुसमप्रभम् ।
युक्तं बुद्धि कुबुद्धिभ्यां एकदन्तं भयावहम् ।। भविष्य०

इसमें कैसा वेद विरुद्ध भयानक ईश्वर का स्वरूप दिखाया गया है । पाठक देख लें । भक्तों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ।

वेद—मुक्ति का मार्ग दिखाता है—

१—तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।
इसमें केवल 'ब्रह्मज्ञान' को ही मुक्ति का साधन बतलाया है ।
२—विद्यया विन्दतेऽमृतम् । यजु० ४०।१४
अर्थात् अमृत मोक्ष की प्राप्ति विद्या—यथार्थ ज्ञान से मानी है ।

पुराण—मुक्ति के साधन लिखता है:—

१—भस्मधारी विशेषेण स्त्रीगोहत्यादिपातकैः ।
वीरहत्याश्वहत्याभ्यां मुच्यते नात्र संशयः । शिव०
२—गंगागंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति । ब्रह्मवैवर्त

३—तुलसीपत्रतोयं च मृत्युकाले च यो लभेत् ।
स मुच्यते सर्व पापाद् विष्णुलोकं स गच्छति । ब्रह्मवैवर्त
४—शिवेति शब्दमुच्चार्य प्राणांस्त्यजति यो नरः ।
कोटि जन्मार्जितात्पापान्मुक्तो मुक्तिं प्रयाति सः । ब्रह्मवैवर्त

इत्यादि अनेक श्लोकों में गंगा स्नान व नामोच्चारण, तुलसी दल का जल शिवनामोच्चारण, भस्म धारण, त्रिपुण्ड्रधारण, और विष्णुचरणामृत आदि अनेक मिथ्या कपोल-कल्पित साधनाभासों को जो वस्तुतः नरक के साधन हैं, मुक्ति के साधन बतलाए हैं, जो कि सर्वथा वेद विरुद्ध होने से अमान्य हैं ।

वेद—गौ आदि उपकारक पशुओं की रक्षा का विधायक है ।

१—गां मां हिंसीः । यजु० १३।४३
२—अन्तकाय गोघातम् । यजुर्वेद
३—मा हिंसीः द्विपादं चतुष्पादम् । यजुर्वेद

इत्यादि अनेक मन्त्रों में गौ आदि महोपकारक पशुओं की हिंसा का सर्वथा निषेध है ।

पुराण—गोवध की आज्ञा देता है:—

१—पंचकोटी गवां मांसं सापूपं स्वन्नमेव च ।
एतेषां च नदी राशिर्भुञ्जते ब्राह्मणा मुने ।
२—पंचलक्षगवां मांसैः सुपक्वैर्घृत संस्कृतैः ।
ब्राह्मणां त्रिकोटीश्च भोजयामास नित्यशः ।।
३—गवां द्वादशलक्षाणां दक्षैः नित्यमुदान्वितः ।
सुपक्वानि च मांसानि ब्राह्मणेभ्यश्च पार्वति ।
४—गवां लक्षच्छेदनं च हरिणानां द्विलक्षकम् ।
दशलक्षं छागलानां मेटानां तच्चतुर्गुणम् ।।
एतेषां पक्व मांसं च भोजनार्थं च कारय ।।

इत्यादि ब्रह्मवैवर्त प्रभृति पुराणों में निरीह व निरपराध उपकारक पशुओं का वध मांस लोलुप स्वार्थी वाममार्गी विद्वानों द्वारा यत्र-तत्र-सर्वत्र भरा पड़ा है जोकि वेद विपरीत होने के कारण सर्वथा अमान्य है ।

वेद—सगोत्र व सपिण्ड में विवाह सम्बन्ध का निषेधक है—

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि। यजु० ११।७२

विवाह सर्वदा दूर देश के परिवारों में होना उचित है।

पुराण—इसकी लीला देखिए कैसी विचित्र है—:

१—या तु ज्ञानमयी नारी वृणेद् यं पुरुषं शुभम्।
कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत्॥

२—मातृजां पितृजां चैव यां चैवोद्वहेत् स्त्रियम्।
कुलैकविंशमुत्तार्य ब्रह्मलोके महीयते॥

३—स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णु देवः स्वमातरम्।
भगिनीं भगवांच्छम्भु गृंहीत्वा श्रेष्ठतामगात्।

४—विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां श्रेष्ठतामगात्॥

इत्यादि अनेक श्लोक भविष्य पुराणादि में वर्णित हैं, जिनमें स्व-पुत्री, बहिन, भतीजी, माता, मामी आदि निकट के रिश्तों में विवाह—सम्वन्धों का निषिद्ध एवं वेदादि सत्य शास्त्रों के विरुद्ध विधान किया गया है। जो कि सर्वथा अमान्य एवं अग्राह्य है।

इसके अतिरिक्त इन पुराणों में महापुरुष राम, कृष्ण. आदि की भर पेट निंदा की है। मांसाहार, मद्यपान, व्यभिचार, धूर्त क्रीडा असम्बद्ध प्रलाप, परस्पर विरोध असम्भव गपोड़े आदि अनेक दोष पाये जाते हैं। जिन्हें देखकर विदेशी व अन्य मतावलम्बी लोग उपहास उड़ाते हैं। अतः पुराणों की अवैदिक कुशिक्षा का परित्याग कर विशुद्ध वैदिक शिक्षा को अपनाकर ही सर्वत्र उसका प्रचार होना चाहिये।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का यह भी एक महान् उपकार है, कि उन्होंने आज से पचासों वर्ष पूर्व अपने अमर ग्रन्थरत्न 'सत्यार्थप्रकाश' द्वारा इन कपोल कल्पित स्वार्थी वाममार्गियों की रचनाओं की निष्पक्षभाव से समीक्षा करके सत्य-असत्य का निर्णय करते हुए सर्व साधारण जनता का सुपथ प्रदर्शन किया है। आज आवश्यकता है कि हम पुराणों के विष से देश को बचाएँ।

❀

पोप-लीला

श्रीमती पवित्रादेवी विद्याविभूषिता

○ ○ ○

पाखंडी, ढोंगी व्यक्तियों का बोध 'पोप' शब्द से होता है। भारत के हर ग्राम-मोहल्ले में 'पोप' आप आसानी से पाएँगे। धर्म के नाम पर धोखा-छल और प्रत्येक पाप इनका अस्त्र है। लेख में इन्हीं धार्मिक-अधर्मियों की लीला पढ़िए। —संपादक

○ ○ ○

"प्यौप' शब्द संभवतः लैटिन भाषा का है, जो बाद में ग्रीक तथा पुरानी अंग्रेजी में भी प्रयुक्त होने लगा। आधुनिक अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाले 'पापा' और 'पोप' शब्द का मूल एक ही है। जिस तरह 'पापा' का अर्थ पिता है उसी तरह पोप का अर्थ भी पिता है। पहले कभी धार्मिक गुरु या आध्यात्मिक पिता के नाते रोमन कैथोलिक चर्च के सबसे बड़े धर्माध्यक्ष को पोप कहा जाता था। जिस तरह भारत में शंकराचार्य की गद्दी चलती है उसी प्रकार रोम में पोप की भी गद्दी चलती है। पोप सारे संसार के रोमन कैथोलिक ईसाइयों का सबसे बड़ा धर्म-गुरु माना जाता है। रोम के इस पोप की वैटिकन सिटी नाम की अपनी एक अलग नगरी है जिसमें पोप का अपना किला, अपनी फौज और अपनी ही नागरिक व्यवस्था चलती है और उसमें संसार के किसी और राज्य की किसी भी सरकार का कोई दखल नहीं है। नव वर्ष के दिन या बड़े दिन (क्रिसमस) पर पोप संसार भर के ईसाइयों के

नाम संदेश देते हैं। आज भी धार्मिक जगत् में जितनी मान्यता और सत्ता इस पोप की है, उतनी शायद संसार में किसी भी सम्प्रदाय के धार्मिक गुरु की नहीं है।

पुराने समय में रोम के पोप अपने चेलों से कहा करते थे कि तुम यदि हमारे सामने अपने पाप स्वीकार (Confession) कर लोगे तो हम तुम्हारे पाप क्षमा करवा देंगे। साथ ही वे यह भी कहा करते थे कि हमारी सेवा या आज्ञा के बिना कोई स्वर्ग में नहीं जा सकता। यदि तुम स्वर्ग में जाना चाहो तो जो-जो सुख-सुविधाएँ तुम स्वर्ग में चाहते हो उन सब का पैसा हिसाब से यहाँ हमारे पास जमा करवा दो तो तुम्हें अभीष्ट सामग्री स्वर्ग में मिल जायेगी। पोप के वचन पर विश्वास करके उनके अन्ध-भक्त उनको यथेष्ट रुपया देते और पोप ईसा और मरियम की मूर्त्ति के सामने खड़े होकर इस प्रकार की हुंडी लिख कर देते थे—"हे खुदावन्द यीशु मसीह ! अमुक मनुष्य ने तेरे नाम पर एक लाख रुपया (या जितना वह दे) जमा करवाया है, जब वह स्वर्ग में आवे तब तू अपने पिता के स्वर्ग के राज्य में २५ सहस्र रुपये में बाग-बगीचा और मकान, २५ सहस्र में सवारी और नौकर-चाकर, २५ सहस्र में खाना-पीना और कपड़े-लत्तों का भण्डार तथा २५ सहस्र रुपये इसके इष्ट-मित्रों और भाई-बन्धु आदि की दावत के लिए दिला देना।" फिर उस हुंडी के नीचे पोप अपने हस्ताक्षर करता और भक्त के हाथ में हुंडी देकर कहता कि जब तू मरे तब हुंडी को कब्र में अपने सिरहाने रख देने के लिए अपने कुटुम्बी जनों को कह छोड़ना। फिर तुझे स्वर्ग में ले जाने के लिए फ़रिश्ते आयेंगे और वे हुंडी को देख कर उसमें लिखे के अनुसार सब चीजें तुझे दिला देंगे।

जब तक यूरोप में अविद्या और अन्ध-विश्वास रहा तब तक वहाँ यह पोप लीला खूब चलती रही। अब यद्यपि वैज्ञानिक युग के प्रवेश और विद्या के प्रचार के साथ इस प्रकार की पोपलीला में बहुत कुछ कमी आ गई है, किन्तु वह बिल्कुल निर्मूल हो गई हो यह नहीं कहा जा सकता। ईसाइयों में जहाँ अन्य अन्ध-विश्वासों की कमी नहीं है, वहाँ रोम के पोप प्रति अन्ध-भक्ति में भी कमी नहीं है।

जैसे रोम के पोप अपने आप को धर्म और स्वर्ग के ठेकेदार समझते थे,

उसी प्रकार भारत में भी जिन लोगों ने अपने आपको धर्म का और स्वर्ग का ठेकेदार कह कर जनता को अन्ध-विश्वास के गर्त्त में ढकेलने में और धर्म के नाम से स्वार्थ सिद्धि करने में कोई कसर नहीं छोड़ी, उन्हीं को ऋषि ने 'पोप' संज्ञा दी है। ऋषि दयानन्द से पहिले इस प्रकार के कपटी, स्वार्थी, अविद्वान्, धर्म के ठेकेदार, पुराण पन्थी ब्राह्मणों को किसी और ने यह संज्ञा दी हो, यह ध्यान नहीं पड़ता। ऐसे व्यक्तियों के लिए 'पोप' शब्द कैसा सटीक ठीक बैठता है यह रसज्ञ लोग ही समझ सकते हैं।

ब्राह्मण-देवता-गुरु

जब अन्य सब वर्णों को व्यवस्था में रखने वाले ब्राह्मण ही विद्या-हीन हो गये तब उनके यजमान स्वरूप अन्य लोग—जिसमें राजा और प्रजा दोनों सम्मिलित थे--विद्या-हीन क्यों न होते। नाना कपोल-कल्पनाओं, पौराणिक गपोड़ों और ग्रह-नक्षत्रों के आतंकों से लोगों को भयभीत करके ब्राह्मणों ने सब को यह पाठ पढ़ाया—

दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवता:।
ते मन्त्रा: ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मण दैवतम् ।।

अर्थात् देवताओं के आधीन सब जगत् है, मन्त्रों के आधीन सब देवता हैं और वे मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन हैं इसलिए ब्राह्मण ही देवता हैं।" इस प्रकार मन्त्र के बल से देवता को बुला कर और प्रसन्न करके सिद्ध करने का दावा करने वाले ब्राह्मणों ने जब अपने आपको ही "पृथ्वी का देवता" बताना प्रारम्भ किया तब उन्होंने परमात्मा के स्थान पर अपनी ही पूजा करने के लिये यजमानों को प्रेरित किया। गुरु कृपा के महत्त्व पर बल देते हुए उन्होंने गुरु सेवा और गुरु माहात्म्य के सम्बन्ध में 'गुरु गीता' जैसे अतिशयोक्तिपूर्ण ग्रन्थ लिखे और नाना पुराण आदि वेद-विरुद्ध ग्रन्थों का प्रणयन कर उन्हें व्यास आदि प्राचीन महर्षियों द्वारा प्राचीन ग्रंथों के रूप में प्रचारित किया। वैदिक वाङ्मय में इन स्वार्थी लोगों ने अपनी ओर से मूर्ति पूजा, श्राद्ध तथा मद्य मांसादि अनाचार के समर्थक प्रक्षिप्त अंश भी मिलाने में कसर नहीं छोड़ी। धीरे-धीरे गुरु का स्थान इतना बढ़ गया कि उसे परमात्मा का समकक्ष या परमात्मा से भी बड़ा

दिखाने का प्रयत्न किया गया। गुरुत्वः परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः आदि

श्लोक उसी मनोवृत्ति के द्योतक हैं। गुरु के पग धोकर पीना, अपना तन, मन, धन सब गुरु के अर्पण करना, स्त्री, कन्या आदि को गुरु की चरण-सेवा के लिए नियुक्त करना और गुरु की प्रत्येक आज्ञा का पालन करना ही परम धर्म बन गया। यजमानों को सिखाया गया कि गुरु चाहे कैसा ही पाप करे उसके ऊपर कभी अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए और बड़े से बड़ा कुकर्म करने पर भी गुरु को दंड देने की बात राजा तक को भी कभी मन में नहीं लानी चाहिए। यदि गुरु लोभी हो तो उसे वामन के समान, क्रोधी हो तो नरसिंह के समान, मोही हो तो राम के तुल्य और यदि कामी हो तो कृष्ण के समान जानना चाहिए। कहा गया कि गुरु के दर्शन के लिए जाने में एक-एक कदम पर अश्वमेघ का फल प्राप्त होता है।

मूर्तिपूजा

बौद्धों और जैनियों की देखा-देखी इन पोप-कुल-प्रवर्त्तक ब्राह्मणों ने भी अपने अलग मंदिर और मूर्तियां बनानी प्रारम्भ कीं। यदि बौद्धों और जैनियों की मूर्तियां ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्यों के समान बनाई गईं तो इन पौराणिकों ने यथेष्ट शृंगारित स्त्री के सहित रंग,राग, भोग-विषयासक्ति वाली मूर्तियां बनाईं। बौद्धों और जैनियों के मंदिरों में कोलाहल का अभाव रहता था तो इन सम्प्रदायी पोपों ने शंख, घण्टे, घड़ियाल आदि बजा कर जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ठीक वही हथकंडे अपनाये जो एक दुकानदार किसी दूसरे दुकानदार के ग्राहकों को अपनी ओर फोड़ने के लिए अपनाता है।

कभी-कभी ये ऐसी विचित्र माया रचते कि पाषाण मूर्त्तियां बनाकर किसी पहाड़ या जंगल आदि में गुप्त स्थान पर रख आते या भूमि में गाड़ देते और फिर अपने चेलों में प्रसिद्ध करते कि मुझे रात को स्वप्न में महादेव, पार्वती, राधा, कृष्ण, सीता, राम या लक्ष्मी, नारायण और भैरव हनुमान आदि ने कहा है कि हम अमुक ठिकाने पर हैं, यदि हम को वहाँ से ला, मंदिर में स्थापना करो और तुम्हीं हमारे पुजारी होओ तो हम मन वाञ्छित फल देवें। जब आँख के अंधे और गाँठ के पूरे लोग इस पोप लीला को सच मान कर अमुक पहाड़ वा जंगल में उनके साथ वहाँ पहुँच कर देखते कि सचमुच

मूर्त्ति विद्यमान है, तब पोप के पांवों पर गिर कर कहते कि आप पर इस देवता की बड़ी कृपा है। अब आप इसे ले चलिये, हम मन्दिर बनवा देंगे। उसमें देवता की स्थापना करके आप ही इसकी पूजा करना और हम लोग भी इस प्रतापी देवता के दर्शन-पर्सन से मनोवाञ्छित फल पावेंगे। जब इस प्रकार एक की कपट लीला चल निकली तब अन्यों ने भी धीरे-धीरे अपनी जीविका के लिए लोगों को वरगला कर मूर्त्तियों की स्थापना की।

तीर्थ, ग्रह और व्रत

धीरे २ इन पोपों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये ही नाना तीर्थों, ग्रहों और व्रतों का इतना प्रपंच फैलाया कि आज का समस्त हिन्दू-समाज अन्य सब कर्त्तव्य कर्मों को भूलकर केवल उन्हीं को मोक्ष का साधन समझ बैठा है। शाक्तों, शैवों, वैष्णवों आदि नाना संप्रदायवादियों के अनेकशः तीर्थ भारत भर में फैले हुए हैं और उनके बिना देश के आधुनिक इतिहास या भूगोल की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मथुरा, वृन्दावन, काशी, प्रयागराज, कुरुक्षेत्र जगन्नाथपुरी, द्वारिकापुरी, रामेश्वरम् आदि तीर्थ स्थान इन पोपों की ही पेट पूजा के प्रधान साधन हैं। तीर्थों का अलग २ माहात्म्य वर्णित कर विशिष्ट मन्दिरों की विशिष्ट मूर्त्तियों के विशिष्ट चमत्कारों का बखान किया गया है। जैसे हर एक पुराण अपने-अपने इष्ट देवता को सृष्टि का निर्माता और सब देवताओं का आराध्य बताता है वैसे ही इन तीर्थध्वांक्षों ने अपने-अपने तीर्थ और अपनी २ मूर्त्ति को सबसे अधिक बढ़ा चढ़ाकर बताया है।

गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥
हरिर्हरति पापानि हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
प्रातः काले शिवं दृष्ट्वा निशि पापं विनश्यति।
आजन्मकृतं मध्याह्न सायाह्ने सप्त जन्मनाम्॥

ये सब श्लोक भी पोपों की ही रचना हैं। सैंकड़ों कोस दूर से भी गंगा गंगा कहने पर पाप नष्ट हो जाते हैं और भक्त विष्णुलोक में पहुँच जाता

है। "हरि" इन दो अक्षरों का उच्चारण मात्र सब पापों को हर लेता है। (ऐसे ही राम, कृष्ण, शिव आदि नामों का महत्त्व है।) जो मनुष्य प्रातः काल में शिव या उसकी मूर्त्ति का दर्शन करे तो रात्रि में किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है, मध्याह्न में दर्शन करे तो जन्म भर का पाप नष्ट हो जाता है और सायंकाल में दर्शन करे तो सात जन्मों का पाप छूट जाता है। नाम स्मरण करने से पाप छूट जाने की यही भावना है जिसके कारण दिन प्रति दिन घूआंधार अखण्ड नाम संकीर्त्तन होता है, तीर्थ यात्रा के लिए स्पेशल गाड़ियाँ चलती हैं और तीर्थों में महान् जन-सम्मर्द एकत्रित होता है ' परन्तु क्या कोई कह सकता है कि इस सब क्रिया कलाप के बावजूद लोगों की पाप-वृत्ति में कुछ अन्तर आया है ? प्रत्युत प्रत्यक्ष तो यह है कि नाम-स्मरण या तीर्थ-स्नान की भावना ने ही पाप की वृद्धि में प्रमुख योग दिया है। क्योंकि मूढ़जन यह विश्वास करते हैं कि कितना ही पाप करो, कोई हानि नहीं, नाम स्मरण किया और तीर्थ में डुबकी लगाई कि तुरन्त सब पाप विलीन हो गये। तीर्थयात्रा का प्रयोजन क्या यही है कि साल भर पाप करते रहे और वर्ष समाप्त होने पर एक बार तीर्थ जाकर, नये वर्ष में फिर से पाप करने का नया लाइसेंस ले आये ?

ठग विद्या

कोई २ धूर्त्त ऐसी माया रचते हैं कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग भी धोखा खा जाते हैं। पाँच सात लोग मिलकर किसी दूरस्थ प्रदेश में जाते हैं, शरीर से, डीलडौल में और रूपरंग में जो अच्छा हो उसे सिद्ध बना लेते हैं और जिस किसी नगर या ग्राम में धनियों की संख्या अधिक हो उसके समीप के जंगल में उस सिद्ध को बिठा देते हैं और स्वयं नगर में जाकर अनजान बनकर पूछते हैं:—"तुमने कोई ऐसा ऐसा महात्मा यहाँ कहीं देखा है ?" लोग पूछते हैं कि वह महात्मा कौन और कैसा है, तब ये साधक कहते हैं। "बड़ा सिद्ध पुरुष है, मन की बातें बतला देता है, जो मुख से कहता है वह हो जाता है। हम तो उसी के दर्शन के लिए घरबार छोड़ कर मारे-मारे फिरते हैं। हमने किसी से सुना था कि वे महात्मा इधर की ओर ही आये हैं।" कोई व्यक्ति कहता है—"ऐसी बात है ? जब वे

महात्मा तुम्हें मिलें तो हमें भी बताना हम भी दर्शन करके अपने मन की बात पूछेंगे।" फिर ये बनावटी साधक अनेक संभ्रान्त गृहस्थियों और धनी नागरिकों को इसी प्रकार पटाकर तीन चार दिन बाद जाकर उनसे कहते हैं कि वे महात्मा मिल गये। तुम्हें दर्शन करना हो तो चलो। वे जब चलने को तैयार हो जाते हैं तब ये साधक उनसे कहते हैं कि तुम क्या बात पूछना चाहते हो, हमें बताओ। फिर सिद्ध और साधकों ने मिलकर जैसे संकेत निश्चित किये हुये होते हैं उनके अनुसार धन की इच्छा वाले को दाहिनी ओर, पुत्र की इच्छा वाले को सामने, रोग निवारण की इच्छा वाले को पीछे से ले जाकर बीच में बिठाते हैं। तभी सिद्ध अपनी सिद्धाई बताने के लिये उच्चस्वर से बोलता है:—'क्या यहाँ पुत्र रखे हैं जो पुत्र की इच्छा से आया है?' इसी प्रकार धन की इच्छा वाले से कहता है:—'क्या यहाँ थैलियाँ रखी हैं जो धन की इच्छा से आया है? फकीरों के पास धन कहाँ धरा है?' रोग वाले से कहता है:—'क्या हम वैद्य हैं जो तू रोग छुड़ाने आया है? किसी डाक्टर वैद्य के पास जा।' इस प्रकार जब सिद्धों की सिद्धाई चमक उठती है तब पोपों के चेले इन पाखण्डियों के पौ बारह और यदि अकस्मात् सिद्ध के कहने से नहीं, किन्तु प्रकृति के नियमानुसार ही किसी धनाढ्य के पुत्र हो जाये, या उसे धन मिल जाये या रोग-निवारण हो जाये तो फिर क्या कहने। फिर तो सिद्ध के पास मिठाई रुपया, पैसा, कपड़ा और सीधा-सामग्री का अम्बार लग जाता है। फिर जब तक सिद्ध की मान्यता रहती है तब तक ये ठग अपनी इस पोप लीला की बदौलत नागरिकों को खूब लूटते हैं।

स्त्रियों में अधिक

यह पोप लीला पुरुषों में जितनी चलती है उससे कहीं अधिक स्त्रियों में चलती है। स्त्रियाँ स्वभावतः भावना-प्रधान होती हैं और धर्म-कर्म के प्रति उनकी आस्था भी विशेष मात्रा में होती है। इसके साथ ही स्त्रियों में अशिक्षा भी अधिक होने के कारण कभी एकादशी, कभी पूर्णमासी, कभी दुर्गानवमी, कभी नागपञ्चमी, कभी करवा चौथ आदि के नाम पर पोप जी उन्हें ठगते रहते हैं। श्राद्ध-तर्पण और पिण्ड-दान मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचते

किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोपों के उदर और हाथ में जरूर पहुँचते हैं। वैत-रणी के नाम पर जो गोदान लिया जाता है वह भी पोप या कसाई के घर ही पहुँचता है। गाय वैतरणी नहीं पहुँचती जैसा कि जाट और पोप जी के दृष्टान्त से स्पष्ट है।

पोप लीला के मूल में जितना स्थान अविद्या का है, उससे कहीं अधिक स्वार्थ का स्थान है। जब तक अज्ञान और स्वार्थ नष्ट नहीं होंगे, पोप लीला भी नष्ट नहीं होगी। पोप लीला को नष्ट करने के लिए अज्ञान और स्वार्थ इन दोनों का निराकरण आवश्यक है। प्रभो! वह दिन कब आयेगा जब हमारा देश अज्ञान और स्वार्थ से विमुक्त होगा, पोप लीला के पाखण्ड से बचेगा और वैदिक धर्म के शुद्ध स्वरूप का अनुयायी होगा!

यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मत में पाये जाते हैं, (परन्तु यदि) वे पक्षपात छोड़ कर सर्वतन्त्र सिद्धान्त को स्वीकार करें, जो-जो बातें सब के अनुकूल हैं और सब में सत्य हैं उनको ग्रहण करें और जो बातें एक दूसरे से विरुद्ध पाई जाती हैं उनको त्याग कर, परस्पर प्रीति से बर्तें बर्तावें तो जगत् का पूर्ण हित हो जावेगा। विद्वानों के विरोध ही से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर विविध दुःखों की वृद्धि और सुखों की हानि होती है। यह हानि स्वार्थी मनुष्यों को प्यारी है, परन्तु इसने सर्व साधारण को दुःख सागर में डुबो दिया।

—महर्षि दयानन्द

ब्राह्म समाज / प्रार्थना समाज के दोष

प्रो० रामसिंह एम० ए०

○ ○ ○

ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज की स्थापना भी आर्यसमाज के लगभग साथ ही हुई। किन्तु इसके संस्थापक पश्चिम की चकाचौंध में बह गए। भारत के उत्थान का यह प्रयत्न भी बाह्य प्रभाव से प्रेरित होने के कारण असफल हुआ। इन का विवेचन विद्वान् की लेखनी से लिखित लेख में पढ़िए। —संपादक

○ ○ ○

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत पर मुसलमानों के आक्रमण का पूरा जोर रहा। इस्लाम का आक्रमण भारत पर प्रधानतया धार्मिक था। इस्लाम की तलवार भारत को मुसलमान बनाने आयी थी। परन्तु भारतीय राजनैतिक दृष्टि से चाहे पिछड़ गये और पराजित होकर पराधीन भी रहे, परन्तु धार्मिक क्षेत्र में मुसलमानों को पूर्ण सफलता नहीं मिलने दी। इस्लाम के शासनकाल में हिन्दुओं ने आन्तरिक और बाह्य साधनों से जन-समुदाय को इस्लाम के हल्के में आने से काफी रोक-थाम की। बाल-विवाह, सती प्रथा, पर्दा, खान-पान का बन्धन, जाति और रोटी-बेटी के कडे नियम, छूआ-छूत आदि अनेक ऐसी रीतियाँ बनाई गई जिनसे बाह्य रूप से हिन्दू धर्म की रक्षा की गयी। इसी प्रकार कबीर-सरीखे सन्तों के द्वारा इस्लाम और हिन्दू धर्म को निकटतर लाने का यत्न भी एक प्रकार से मुसलमानी वेग को रोकने का सरल

उपाय था। इस प्रकार हिन्दू धर्म अपनी आत्मरक्षा में लगा रहा और इन छः सात शताब्दियों में कोई माई का लाल उत्पन्न नहीं हुआ जो इस्लाम के विरोध में धर्म के स्तर पर टक्कर लेता और न्याय और युक्ति की तलवार से ऐसा धावा बोल देता कि इस्लाम को लेने के देने पड़ जाते। दुर्भाग्यवश इस प्रकार के प्रत्याक्रमण का किसी को विचार ही नहीं आया।

इन रीति-रिवाजों का जहाँ अच्छा परिणाम हुआ, वहाँ हिन्दू धर्म का दम भी घुट गया और देखते-देखते अनगणित मत और सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। हिन्दू धर्म का ढाँचा ही बिगड़ गया। नवीन रूढ़ियां अब किले का काम न दे सकीं। उस पर एक नई और आपत्ति आ गई। देश में यूरोपियन जातियों का आगमन प्रारम्भ हो गया। अन्त में अंग्रेजों का आधिपत्य होने से ईसाइयों को सुअवसर मिल गया। इस बिगड़ी हुई दशा का लाभ उठाकर हिन्दुओं को ईसाई बनाना प्रारम्भ कर दिया गया। रही-सही कसर अंग्रेजी शिक्षा ने पूरी कर दी वही रूढी और दृढ़ बन्धन और रीति रिवाज जिन्होंने इस्लाम से रक्षा में सहायता की अब अभिशाप बन गये।

ऐसी स्थिति में जिन महानुभावों ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए जो प्रयत्न किये वह सराहनीय अवश्य हैं; परन्तु वह राम-वाण औषध नहीं थे।

ब्रिटिश-शासन की नींव सबसे पहले बंगाल में पड़ी—इसलिये स्वभावतः, हिन्दू समाज की रक्षा के आन्दोलनों का श्री गणेश बंगाल से हुआ। श्री राम-मोहन राय इनके जन्म दाता कहे जा सकते हैं। इन्होंने मूर्तिपूजा जाति-पाँति रूढ़िवाद और सती प्रथा के विरुद्ध घोर प्रचार किया साथ ही ईसाई-धर्म के प्रति भी अनुराग उत्पन्न किया। सन् १८२८-३० में ब्राह्म समाज की नींव डाली। सन् १८३३ में इनके देहावसान के पश्चात् ब्राह्म समाज की बागडोर श्री देवेन्द्रनाथ जी ठाकुर (कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता) के हाथ आयी। इन दिनों श्री स्वामी जी महाराज (महर्षि दयानन्द) जी की ख्याति काशी-शास्त्रार्थ के कारण सारे देश में फैल चुकी थी। श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी श्री स्वामी जी से अत्यन्त प्रभावित थे। अतः उन्होंने श्री स्वामी जी को बंगाल आने का निमन्त्रण दिया था।

श्री स्वामी जी दिसम्बर १८७२ में कलकत्ते पहुँचे। इन दिनों सभी गण्य मान्य व्यक्तियों द्वारा आप का स्वागत किया गया। श्री स्वामी जी ने इस

अवसर से लाभ उठाकर श्री केशवचन्द्र सेनादि सुधारक—समुदाय द्वारा परिचालित ब्राह्मसमाज तथा तत्सम अन्य समाजों का अच्छा अनुशीलन किया तथा उनके गुण-दोष बताकर उन्हें वैदिक धर्म के गूढ़ तत्वों को समझाया। परन्तु यह लोग आर्य धर्म की महानता स्वीकार करते हुये भी अपने प्रारम्भ किये हये कार्य से लौटने का साहस न जुटा सके। इसलिये इस एकादश समुल्लास में मुनिवर ने पुराने और इस्लामी काल के आर्यावर्त्तीय मतमतान्तरों की समीक्षा के साथ-साथ इस ईसाई धर्म के उपदेशों से प्रेरित और नवीन पाश्चात्य-शिक्षा से प्रभावित ब्राह्म समाजादि सम्प्रदायों की भी काफी समालोचना की है। श्री महाराज इन नवीन मतों को अधिक से अधिक प्रशंसा के रूप में 'एक गुल-दस्ता' कह सकते थे जिनमें प्राय: सभी मतों के फूल इकट्ठे करने का प्रयत्न तो किया जाता रहा—परन्तु उस गुल दस्ते का मूल (जड़) नहीं, अत: वह कभी स्थायी नहीं हो सकेगा, शीघ्र ही मुरझा जायगा।

अत: ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज (तथा अन्य इसी प्रकार के प्रचलित समाज देव समाज थ्योसिफीकल समाज आदि) अच्छे हैं वा नहीं—इस प्रश्न का समाधान करते हुये श्री महाराज कहते हैं "कि इनमें कुछ २ बातें अच्छी और बहुत सी बुरी हैं" इनके नियम सर्वांश में अच्छे नहीं क्योंकि वेद विद्याहीन लोगों की कल्पना का कोई सत्याधार नहीं होता इसलिये वह सर्वाङ्गीण सत्य नहीं हो सकती। हाँ ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज ने ईसाइयों की ओर झुक कर हिन्दू धर्म की कुछ बातों को लेकर कुछ लोगों को इसाई होने से बचा लिया अवतार वाद मूर्ति पूजा तथा अन्य अन्ध विश्वासों और धार्मिक कुरीतियों का भी खण्डन किया। इस अंश में उनका प्रचार और प्रयत्न स्तुत्य है।

श्री स्वामी जी ने ब्राह्म समाजादि संस्थाओं को निकट से देखा था अत: उन्होंने संक्षेप से इनके १६ सोलह दोष गिनाये हैं। इनमें अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं—इस प्रकार की अन्य संस्थाओं की समालोचना इन्हीं के अन्तर्गत है। श्री स्वामी जी के लेख को दृष्टि में रखते हुये इनका निम्न प्रकार से उल्लेख किया जा सकता है।

१—पाश्चात्य शिक्षा—दीक्षा से यह लोग अत्यन्त प्रभावित हैं। उन्हीं देशों की ओर उन्हीं लोगों की प्रशंसा करते नहीं थकते—इसलिये इन लोगों में

स्वदेश भक्ति प्रति न्यून है। "Keshab chandra Sen ran counter to the rising tide of national consciousness then feverishly awakening.

(Drophets of India Page 97,)

रोम्यों रोलां लिखते हैं—केशवचन्द्र सेन भारत की उस राष्ट्रीय जागृति के कट्टर विरोधी थे जो उन दिनों ज्वर की भान्ति लोगों को हिडोल रही थी।

२—व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते—उन की निन्दा करते हैं। आर्यावर्ती लोगों को मूर्ख समझते हैं—श्री केशवचन्द्र सेन अपने एक व्याख्यान में जो 'जीसस क्राइस्ट, योरुप—एशिया' के शीर्षक से सन् १८६५ में छपा है—कहते हैं—

'I Cherish the profoundest reverense for the character of gesus and the lofty ideal of moral truth which he taught and lived and thus in Chrish Europe and Asia the East and the west may learn to find harmony and unity"—(jesus Chriest Europe and Asia by k. c. sen.)

मैं ईसा के चरित्र तथा नैतिक सत्यता के महान आदर्श के प्रति जिसका न केवल उन्होंने प्रचार किया प्रत्युत तदनुसार जीवन यापन किया, अत्यन्त आदर और मान करता हूँ। ईसा में ही एशिया और योरोप, पूर्व और पश्चिम एकता और सामञ्जस्य देख सकते हैं। (जीसस् क्राइस्ट, योरोप एण्ड एशिया)।

३—वैदिक ग्रन्थों की निन्दा करते हैं। इनके उद्देश्य पुस्तक में साधुओं की गणना में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक, चैतन्यादि के नाम तो मिलेंगे परन्तु ऋषि मुनियों का तनिक भी उल्लेख नहीं।

प्रमाण स्वरूप ब्राह्म समाज का पांचवां नियम देखिये—"परमेश्वर कभी भी नर-तन धारण करके मनुष्य नहीं बनता। उसका ईश्वरत्व प्रत्येक मनुष्य में वास करता है। और कुछ में अधिक स्पष्टता से प्रकट होता है। मूसा, ईसा मसीह, मुहम्मद, नानक, चैतन्य तथा दूसरे महानुभाव विशेष समयों पर प्रकट हुये और संसार को अनेक लाभ दिये—इसमें कहीं भी न 'राम' का नाम, न 'कृष्ण' का न किसी ऋषि का, न मुनि का।

४—अंग्रेज, यवन, अन्त्यज आदि से भी खाने पीने का भेद नहीं रखा।
"इन्होंने समझा कि केवल परस्पर खाने-पीने और जाति भेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा"। इन शब्दों के साथ श्री स्वामी जी ने 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुये भली भाँति समझाया है कि जाति भेद ईश्वर कृत है। परन्तु मनुष्य कृत जो जाति भेद है वह केवल गुण-कर्म स्वभावानुसार ही किया जाना उचित है। राजा लोग (अधिकारी वर्ग) तथा विद्वान् लोग ही भलीभाँति परीक्षा करके ही वर्णों का निश्चय किया करें। जन्मना प्रचलित जातिभेद वेद-विरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य और निन्दनीय है। इसी प्रकार भोजन भेद भी पशु-पक्षी आदमियों में ईश्वर कृत है, परन्तु मनुष्यों द्वारा देशकाल और वस्तु-स्थिति के अनुसार मनुष्य कृत भी है, इससे ब्राह्म समाजी तथा अन्य इसी प्रकार के लोग खान-पानादि और रहन-सहन में योरोप वालों की अन्धी नकल करके उन्नति नहीं कर सकते। धर्माधर्म विचार द्वार अपनी संस्कृति और वैदिक जीवन पद्धति का आश्रय लेने से ही हम सब का कल्याण हो सकता है।

५—छूत-अछूत (हरिजन) व्यवहार का भी सभी नवीन समाज सुधारकों ने खण्डन किया है। श्री राममोहन राय से लेकर गांधी जी तक इसके विरुद्ध प्रचार करते रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस समस्या को हल करने लिये जो पग उठाये गये, उनमें विधान की धारा १७ अत्यन्त महत्व पूर्ण है—उसमें लिखा है:—"छूआ-छूत और उसका व्यवहार प्रत्येक अवस्था या रूप में वर्जित है"। इसी को दृष्टि में रखते हुये जन प्रतिनिधि—विधेयक, १९५१ (Representation of Peoples Act 1951) की धारा १२३ में जाति-पांति के नाम पर निर्वाचन के समय आन्दोलन करना वर्जित ठहराया गया तथा १९५६ में लोक सभा द्वारा(The untouchabilty Act 1956) छूआछूत-विरोधी विधेयक बनाकर अछूत कहे जाने वाले लोगों को, मन्दिरों, भोजन गृहों सार्वजनिक संस्थाओं, कुओं और नलादि स्थानों पर बेरोक-टोक प्रवेश करने और लाभ उठाने की आज्ञा दी गई। तथा विवाह—सम्बन्धी नियमों में भी क्रांतिकारी परिवर्तन करके हरिजन—समस्या को सुलझाने का सदैव के लिये स्तुत्य प्रयास किया। परन्तु सच तो यह है कि इस बुराई को दूर करते २ अनेक अन्य बुराइयां उत्पन्न हो गई हैं। हरिजन एक अलग-थलग (cast) का रूप ले रही

है। भारतीय समाज में एकरूपता के स्थान पर अनेकरूपता और संघटन के स्थान पर विघटन ही बलवान है। जन्म-जातिमूलक प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं।

भगवान दयानन्द के मन्तव्यानुसार समाज की इन सभी जन्म-मूलक बुराइओं को दूर करने का एक ही मार्ग है और वह है वैदिक वर्णाश्रम धर्म का क्रियात्मक पुनर्निर्माण। धरा-धाम पर इस आर्षमर्य्यादा के बिना शाश्वत-शान्ति और सुख नहीं मिल सकेगा। आज अमेरिका में गोरे काले का भेद, अफरीका में जाति-विद्वेष तथा इसी प्रकार के मौलिक प्रश्न सभी देशों में गुण-कर्म-स्वभाव के प्राकृतिक नियम के आधार पर ही हल किये जा सकते हैं।

६—"ब्राह्म समाजादि मत वास्तव में सृष्टि के क्रम तथा जीवादि के अस्तित्व के सम्बन्ध में न वैज्ञानिक दृष्टि से सोचते हैं और न गम्भीरता पूर्वक इनका विवेचन ही करते हैं। श्री अरविन्द के लेखानुसार भी "स्वामीजी में, १६ वीं शती के अन्य धर्म सुधारकों की अपेक्षा यह विशेषता थी कि वह वेदों के अद्वितीय पण्डित थे। राजा राममोहनराय श्री देवेन्द्रनाथ, केशवचन्द्र सेन, श्री रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द वेदों के ज्ञाता नहीं थे। यह केवल उपनिषदों तक ही जाकर ठहर गये।"

इसी कारण इन महानुभावों के मन्तव्य शंकर-मत के अनुसार व्याख्याकृत उपनिषदों के ज्ञान तक सीमित रह गये। "उपनिषदों को भी आधार-ग्रन्थ की तरह माना, प्रमाण की तरह नहीं। इससे भी बढ़ कर विचित्र बात यह हुई कि यह ब्राह्म समाजादि कुरान और इञ्जीलदि सभी मत-ग्रन्थों को समान आदर देते हुये उनकी अवैदिक धारणाओं को भी मानने लगे—यथा

७—पश्चात्ताप और प्रार्थना से पापों की निवृत्ति। श्री स्वामी जी महाराज इस पर रोष प्रकट करते हुये लिखते हैं कि—'इस बात से जगत् में बहुत से पाप बढ़ गये हैं। पुराणी लोग तीर्थादि से, जैनी लोग नवकार मन्त्र, जप, तीर्थादि से, ईसाई-ईसा में विश्वास से, मुसलमान (तोबा) करने से, पाप से छुटकारा मानते हैं। यह सब वेद विरुद्ध बातें हैं। इन्हीं से तो जगत् में पाप बढ़ जाते हैं। विना भोग के पाप-पुण्य की निवृत्ति असम्भव है तथा ईश्वरीय न्याय के विपरीत।

वैदिक मन्त्रों में जो भी प्रार्थनायें हैं, वह केवल पाप तथा अधर्म की वृत्तियों को रोकने, भविष्य में पाप न करने और सदैव धर्म्माचरण करने को ही प्रतिपादित करती हैं। किये हुए पापों के क्षमा होने का वर्णन कहीं भी नहीं है। श्रुति और स्मृतियों के अतिरिक्त रामायण और महाभारत तक स्थान-स्थान पर यही उद्घोष करते हैं। यथा—

> अवश्यमेव लभते फलं, पापस्य कर्मणः।
> भर्तः पर्यागते काले. कर्ता नास्त्यत्र संशयः॥
>
> (वाल्मीकि० युद्ध० १११)
>
> यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं यदि वा सत्तम।
> अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः॥
>
> (महाभारत० वन० अध्याय २०८)

८—ब्राह्म समाजादि लोग जीव की अनन्त उन्नति मानते हैं, जो ज्ञान-विज्ञान और तर्कादि के सर्वथा विरुद्ध है। जीव ससीम है, अल्पज्ञ है। उसके गुण-कर्म-स्वभाव का फल भी ससीम ही होगा।

वास्तव में ब्राह्मण समाज के नेताओं पर ईसाइयत का इतना प्रभाव था कि वह 'मोक्ष' और 'पुनर्जन्म' के सम्बन्ध में अधिक गवेषणापूर्वक विचार ही नहीं कर सके। श्री स्वामी निर्वेदानन्द जी लिखते हैं—

In its conception of religious faith as well as social reform, the Brahma Samaj leaned at times to considerable extents on exotic ideals. From its very conception it bore the stamp of Western Christianity. Keshab Chandra went so far as to soak the very core of the Brahmas creed with Christian ideals (Cultural Heritage of India. Page 445.)

अर्थात् धार्मिक विश्वास और सामाजिक-सुधारों की कल्पना के लिए ब्राह्मसमाज को कभी-कभी बहुत सीमा तक भ्रमात्मक आदर्शों पर निर्भर होना पड़ा। प्रारम्भ से ही उस पर पाश्चात्य ईसाइयत की छाप रही। श्री केशवचन्द्र जी तो इतनी दूर चले गये कि उन्होंने ब्राह्म-धर्म की नींव ही ईसाई-आदर्शों में सराबोर कर डाली।

९—ब्राह्मसमाज इसी प्रकार न पुनर्जन्म को मानते हैं और न ही पूर्व-जन्म को। यह धारणा भी ईसाई और मुसलमानों के प्रभाव से ही बनी है। यह लोग यह नहीं समझते कि जीव शाश्वत और नित्य है और इसी कारण जीव के कर्म भी प्रवाह रूप से नित्य हैं।

पूर्व और अपर जन्म न मानने से ईश्वर के विषय में चार प्रकार के दोष सम्भव हो जाते हैं—१. कृतहानि—भला यदि मरने के पश्चात् जन्म न हो, तो इस लोक में किये हुये कर्मों का फल कब मिलेगा ? क्या कर्म (शुभ या अशुभ) बिना फल के रह जायेंगे। २. अकृताभ्यागम—कर्म किये बिना ही सुख-दुःख रूपी फल का भोग अकृताभ्यागम दोष कहलाता है। बिना कर्म किये हुये ही संसार में अन्धे, लंगड़े, अमीर, गरीब आदि की व्यवस्था क्यों और कैसे ? इस दोष को दूर करने के लिए पूर्व-जन्म का मानना अनिवार्य हो जाता है। इसी प्रकार ३. नैर्घृण्य और ४. वैषम्य दोषों को भी समझना चाहिये। बिना अपराध के दंड देना और अकारण ही कोई सुखी और कोई दुःखी बनाया जाना—न्याय और सम-व्यवहारता के विपरीत है। इन दोषों का निवारण और समाधान केवल पूर्व-पर जन्म मानने से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

१०—ब्राह्म-समाज के नेता श्री केशवचन्द्रसेन ईसाइयत के प्रभाव में आकर यहाँ तक उदार हो गये थे कि इन्होंने न केवल अग्निहोत्रादि कर्त्तव्य-कर्मों को तिलाञ्जलि दी प्रत्युत एक वृहत्-जन-समूह के समक्ष अपने यज्ञोपवीत को भी उतार कर फेंक दिया और इस प्रकार स्वयं एक कट्टर बुद्धिवादी होने का दावा करने लगे। सृष्टि के पूर्व के एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व को भी नहीं मानते थे।

सन् १८७२ में श्री स्वामी जी कलकत्ते पधारे तो सेन महोदय श्री स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुए और अपने समस्त सन्देहों को स्वामी जी के सन्मुख रखा। साथ ही यह भी पूछा कि महाराज भिन्न-भिन्न धर्म्मों के मानने वाले लोग अपने मान्य-ग्रन्थ को ईश्वरीय और अन्तिम प्रमाण मानते हैं और आर्य वेद को ही ईश्वरीय-ज्ञान कहते हैं। हम कैसे जानें कि का

कहना सच्चा है ? श्री स्वामी जी ने युक्ति-युक्त और प्रमाण सहित वचनों से सेन महोदय के सभी संदेहों का समाधान किया और साथ कुरान और इञ्जील-बाइबिल के अनेक दोष दिखा कर बलपूर्वक कहा—"सभी भाँति निर्दोष होने से वैदिक धर्म ही सच्चा है।"

इस वाक्य पर सेन महाशय के मुख से सहसा निकल पड़ा—

"शोक है कि वेदों के अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानते, अन्यथा इंग्लैंड जाते समय मेरे इच्छानुकूल साथी होते।"

श्री स्वामी जी ने भी तत्काल उत्तर दिया—"शोक है कि ब्राह्म-समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते"—(श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश)

ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज तथा इसी प्रकार के तात्कालिक संगठनों की स्थापना और उनके सिद्धान्तों की अपूर्णता को देख कर ही स्वामी जी ने उनके नेताओं से प्रबल अपील की थी कि—"जो उन्नति करना चाहो तो आर्य्य-समाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिल कर प्रीति से करें। इसलिये जैसा आर्य्य-समाज आर्य्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।"

ऋषि मुनियों का देश भारत उत्कर्ष के लिए "वेद" का प्रकाश चाहता है। इसके बिना और कुछ भी हो रामराज्य की स्थापना नहीं हो सकती।

आर्यावर्त्त देशीय राजवंश

श्री अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार

o o o

भारत के उत्कर्ष की झाँकी इतिहास के पृष्ठों में अपनी कथा स्वयं कहती है। ऋषि दयानन्द ने एकादश समुल्लास के अंक में जो वंशावली दी है उससे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। विद्वान् लेखक ने इसी पर सविस्तार सामग्री प्रस्तुत की है।

—संपादक

o o o

"वयं प्रजापते प्रजा अभूम:"

कार्ल मार्क्स और महर्षि दयानन्द समसामयिक थे। दोनों एक नए समाज का निर्माण करना चाहते थे। एक के सामने एक विशिष्ट वर्ग का उद्धार था। दूसरे के सामने लक्ष्य था, परमात्मा का राज्य स्थापित करना। ऋषि किसी वर्ग विशेष और व्यक्ति विशेष का नहीं परमात्मा का राज्य इस लोक पर स्थापित करना चाहते थे। क्योंकि ऋषि ने छठे समुल्लास के अन्त में लिखा है।

"हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।"

राज्य के विषय में ऋषि की कल्पना का सूक्ष्म तत्त्व इसमें विद्यमान है। इसके बाद ११ वें समुल्लास के अन्त में "न वेत्ति यो यस्य गुण प्रकर्ष" "श्लोक

की व्याख्या करते हुए लिखते हैं।" "इसके आगे जो थोड़ा सा आर्य राजाओं का इतिहास मिला है, इसको सब सज्जनों को जानने के लिए प्रकाशित किया जाता है।"

स्पष्ट है, ऋषि सम्पूर्ण इतिहास नहीं लिख रहे हैं। यहां आर्य राजाओं का शब्द ध्यान देने योग्य है। महर्षि भारतवर्ष के सब राजाओं का नहीं, केवल 'आर्य राजाओं' का प्राप्त इतिहास प्रकाशित कर रहे हैं।

'आर्य राजाओं' से ऋषि का क्या अभिप्राय है इसको विशद करते हुए ऋषि ने लिखा है।'

अब थोड़ा सा आर्यावर्त्तदेशीय राजवंश कि जिसमें श्रीमान् महाराजा युधिष्ठिर से ले के महाराज "यशपाल" पर्यन्त हुए हैं, उस इतिहास को लिखते हैं। और श्रीमान् महाराजे "स्वायंभुव" मनु से ले के महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त का इतिहास महाभारतादि में लिखा ही है। और इससे सज्जन लोगों को इधर के कुछ इतिहास का वर्तमान विदित होगा।

ऋषि ने जो इतिहास दिया है, वह हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित) और मोहन चन्द्रिका (नाथ द्वारा) से लेकर दी है बल्कि "उससे हमने अनुवाद किया है। यह इतिहास १७८२ की लिखी एक प्राचीन पुस्तक से लिया गया है।" उस पुस्तक और उसके रचयिता का नाम नहीं दिया गया है।

दो पाक्षिक पत्रों से अनुवाद करके अपने अनमोल सिद्धान्त-ग्रन्थ में ऋषि ने राजवंशावलियाँ क्यों दी, यह भी जानने योग्य है। ऋषि ने लिखा है "यदि ऐसे ही हमारे आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्या पुस्तकों का खोज कर प्रकाश करेंगे, तो देश को बड़ा ही लाभ पहुँचेगा" महर्षि की यह इच्छा अपूर्ण ही रही। इसने ऐतिहासिक गवेषणा और प्राचीन पुस्तकों की खोज के कार्य को आगे नहीं बढ़ाया।

१७८२ की लिखी मूल पुस्तक को ऋषि ने देखा होगा, और उसके प्रामाणिक होने पर ही ऋषि ने ११ वें समुल्लास के १२४ राजाओं की सूची दी है। इनका राज्य काल ४१५७ वर्ष ६ मास १४ दिन होता है।

ऋषि का यह सप्रमाण उन लोगों को उत्तर हैं, जो उस समय प्रचार कर रहे थे कि महाभारत का युद्ध ५००० साल पहले नहीं हुआ। यहाँ ध्यान देने की बात है कि वेदों के काल के विषय में मैक्समूलर का मत बाद में जो बदला वह ऋषि के साथ पत्र-व्यवहार करने के बाद। परन्तु उसने जो लिखा कि ऋग्वेद का काल ई० से १२०० वर्ष पहले है, उसने अपना काम कर दिया। आज भी यह उद्‌धृत किया जा रहा है। इसको मानने का अर्थ है कि भारतीय जनता और ज्योतिष की यह मान्यता कि महाभारत का युद्ध ५००० साल पहले हुआ है, सर्वथा भ्रमात्मक है। यह मानने पर इस देश के लोग सर्वाधिक प्राचीन और सभ्य होने का गौरव कैसे करते ? ऋषि ने यह वंशावलि देकर भारतीयों के गौरव और स्वाभिमान को जाग्रत ही नहीं किया है उसको एक प्रामाणिक आधार पर खड़ा किया है।

भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए ऋषि ने एक नवीन दृष्टि दी है। भारतीय इतिहास को प्रान्तों, व जनपदों के इतिहास में विभक्त न कर सम्पूर्ण देश के इतिहास को एक केन्द्रीय विन्दु से अध्ययन करना चाहिये। ऋषि ने इन्द्रप्रस्थ को केन्द्रस्यल माना है। क्योंकि यहाँ राजसूय यज्ञ हुआ था। यद्यपि परीक्षित की राजधानी हस्तिनापुर थी। गंगा में बाढ़ आने पर पुरुवंश कौशाम्बी चला गया था। भगवान बुद्ध के समय भारत के बड़े राजाओं में उदयन भी एक था, जिससे बौद्ध लोग बहुत नाराज थे। एक मात्र इस आर्य राजा ने बुद्ध के चरणों में अपना मस्तक नत नहीं किया था। उदयन एक लोक प्रिय शासक हुआ है। पर ऋषि की इस वंशावली में उसका नाम नहीं है। कारण स्पष्ट है, वह इन्द्रप्रस्थ छोड़ गया था।

यूरोपियन और अब भारतीय ऐतिहासिक भी भारतीय ज्ञान इतिहास का आरम्भ सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने से करते हैं, (वि० स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'अर्ली हिस्ट्र आफ इण्डिया' में इससे ही किया है। अब मोहनजोदड़ो से किया जाने लगा है। किन्तु उसको आर्य सभ्यता का अंग नहीं माना जाता।

इस वंशावली में और एक बात उल्लेख योग्य है। भारत के राजा दिल्ली का राज्य पाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहे। वे सब मानते थे कि दिल्ली का

राजा होने पर ही उनकी प्रतिष्ठा होगी और वे भारत भर के राज्य माने जायेंगे। यह प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है। पटना, काशी, कौशाम्बी और अवन्तिका, उज्जैन दिल्ली का स्थान न ले सके। जो गौरव इस देश के निवासियों के हृदय में दिल्ली के लिए था। वह अन्य राजधानियों के लिये नहीं था।

राजा वीरमहा के राजवंश में १६ वां और अन्तिम राजा आदित्यकेतु था। इस राजा के विषय में लिखा गया है कि "राजा आदित्यकेतु मगध देश के राजा को धंधर नामक प्रयाग के राजा ने मार कर राज्य किया।" पटना प्रयाग की यह लड़ाई इन्द्रप्रस्थ के राज्य के लिये है। आदित्यकेतु मगध का भी शासक था और दिल्ली का भी। यह एक नई बात ज्ञात होती है। मगध के ज्ञात राजाओं में आदित्यकेतु नामक किसी राजा का पता नहीं मिलता। सम्भव है यह वीरसेन का पुत्र न हो और मगध की ओर से इन्द्रप्रस्थ का गवर्नर नियुक्त किया गया हो। लेकिन यह अनुसन्धान का विषय है। राजा धंधर प्रयाग का राजा था यह भी गवेषणीय है। धंधर ने दिल्ली में अपना वंश स्थापित किया। इसके अन्तिम राजा राजपाल को सामन्त महान पाल ने मार दिया। किन्तु इसका राज्य अधिक दिन टिका नहीं। क्योंकि अवन्तिका के राजा विक्रमादित्य ने महानपाल को मार दिया। अवन्तिका को उज्जैन नहीं मानना चाहिए। ये दो पृथक-पृथक नगर थे। मालवा के दो भागों की राजधानियां थीं।

विक्रमादित्य भी स्थायी नहीं हो सका। ये सब एक पीढ़ी के राज्य रहे। वंशावली लेखक ने भी लिखा है "इनका विस्तार नहीं है।"

विक्रमादित्य को पैठण के शालीवाहन के उमराव समुद्रपाल ने मारा और अपना राजवंश चलाया। पैठण के एक उमराव की दिल्ली का राज्य पाने की इच्छा बताती है कि दिल्ली का भारतीय जनता के मन में क्या स्थान था। मगध, अवन्तिका और पैठण की दिल्ली के प्रति यह भक्ति अकारण और केवल राज्य-विस्तार की इच्छा से नहीं हो सकती। दिल्ली का राजा सारे देश का राजा माना जाता था। यह परम्परा और भावना तो मुगलों के समय तक ही क्यों अंग्रेजों में भी जारी रही।

यह अनुभूति पश्चिम के एक राजा मलुखचन्द (बोहरा) को भी थी। इसने लड़ाई में विक्रमपाल को मार कर इन्द्रप्रस्थ का राज्य पाया। ऋषि दयानन्द ने दिल्ली नरेशों को ही आर्य राजा कहा है। इसका विशेष कारण है। मलुखचन्द्र की १० वीं पीढ़ी में रानी पदमानवी ने राज्य किया। वह निःसन्तान थी। इस समय सब मुसद्दियों ने सलाह करके हरिप्रेम को राजा बनाया। हरिप्रेम के राजा चुनने की विधि ध्यान देने के योग्य है। दूसरी बात यह है कि हरिप्रेम का प्रपोता महाबाहु राज्य छोड़कर वन में तपस्या करने चला जाता है। और कालिदास के इस आदर्श को पूरा करता है।

वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगे नान्ते तनुत्यजाम्।

दिल्ली नरेश आर्य आदर्शों पर चलते थे और ऋषि ने इसी कारण सम्भवतः निर्बल और प्रभावहीन राजाओं की नामावली देना उचित समझा है। मुस्लिम शासन ने आर्य संस्कृति को कितना भारी आघात पहुंचाया है इसकी कल्पना क्या इसके बिना हो सकती थी? ऋषि ने यह बात नहीं कही। पर जो लोग मुस्लिम शासकों को भारतीय और राष्ट्रीय मान रहे हैं उनको अवश्य चेता दिया है। जो व्यक्ति भारतीय संस्कृति के विपरीत चलता है, वह कैसे राष्ट्रीय माना जा सकता है ?

महाबाहु के वन में जाने पर बंगाल के राजा अधिसेन ने दिल्ली पर हमला किया। बंगाली नरेश दिल्ली को किस दृष्टि से देखते थे, यह इससे स्पष्ट है। बंगाल में पालवंशी राजाओं के बाद सेन वंशी राज्य हुए हैं। लक्ष्मणसेन का नाम प्रसिद्ध है। इस वंश से क्या अधिसेन का कोई सम्बन्ध था ? यह पक्का पता नहीं। क्योंकि बंगाल के सेनवंशी राजाओं में अधिसेन का नाम उल्लिखित नहीं है। परन्तु इन सब राजाओं का नामान्त सेन से ही हुआ है, सिंह से नहीं। इससे यह तो मानना होगा कि अधिसेन बंगाल का ही था। एक बात और उल्लेख योग्य है। दिल्ली के पास लोहे की कीली है। यह ढिल्लु की लगाई बताई जाती है। लेकिन इस राजवंशावली में इस नाम का कोई व्यक्ति नहीं है। ऋषि की दी गई वंशावली से और दो बातें भी मालूम होती हैं।

दिल्ली का राजा अंनगपाल नाम का कोई नहीं हुआ 'पाल' नाम वाले १२ राजा हुए हैं, परन्तु उनमें अनंगपाल का नाम नहीं। दूसरी बात यह कि पृथ्वीराज ने जब दिल्ली की गद्दी ली तो नाती होने के नाते प्राप्त नहीं की, अपितु राजा जीवनसिंह से प्राप्त की। पृथ्वीराज अजमेर का नहीं था, जैसे कि प्रसिद्ध ऐतिहासिक और राजपूताना के इतिहास के लेखक श्री गौरीशंकर हीराचन्द ने भी माना है। जब पृथ्वीराज ने दिल्ली की गद्दी लड़कर प्राप्त की थी; तब कन्नौज के जयचन्द्र से विरोध होने का कोई कारण नहीं हो सकता। अनंगपाल के इन दोनों नातियों में दिल्ली को लेकर वैर हुआ, यह इस वंशावली से सत्य प्रमाणित नहीं होता (४) पृथ्वीराज इसमें वैराट का राजा बताया गया है, अजमेर का नहीं। चौहाण कुल आज भी वड़ी संख्या में सहारनपुर और बिजनौर जिले में वसे हुए हैं। इनकी कुल देवी शाकमारी (वैराट)के ही शिकसन पर्वत पर पास है सिकन्दर के आक्रमण के समय भी ये लोग यहाँ ही बसे हुए थे। इसलिए पृथ्वीराज का वैराट से आकर दिल्ली लेना अधिक स्वाभाविक है। 'पृथ्वीराज रासो' की कथा इसको मानने में बाधा है। परन्तु पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता ही जब सन्दिग्ध है, तव उसको आधार मानना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। (५) शाहबुद्दीन गौरी की लड़ाई पृथ्वीराज से नहीं हुई, यशपाल से हुई। यह सर्वथा एक नई बात है। स्कूल की किताबों तक में यह पढ़ाया जाता है। अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज था। परन्तु सत्यार्थ प्रकाश में दी गई वंशावली से पता चलता है कि पृथ्वीराज के वंशधरों ने ५ पीढ़ी और ८६ वर्ष राज्य किया। (६) यशपाल गजनी नहीं ले जाया गया, बल्कि प्रयाग के किले में कैद रखा गया। (७) यशपाल के बाद शाहबुद्दीन गौरी ने राज्य किया। ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं "पश्चात् इन्द्रप्रस्थ अर्थात् दिल्ली का राज्य आप ("सुल्तान शाहबुद्दीन) करने लगा। पीढ़ी ५६, वर्ष ७५४ मास १ दिन १७।"

पुस्तक १७८२ में लिखी गई। इसका अर्थ है कि १८३९ में ब्रिटिश राज्य पूरी तरह स्थापित हो गया था। वह दिल्ली के मुगल नरेशों को स्वतन्त्र नहीं मानता था। इस वास्ते प्रश्न होता है कि ५३ पीढ़ी की गणना उसने किस हिसाब से की।

स्वामी जी ने जो वंशावली दी है, उसकी प्रामाणिकता इससे प्रकट है कि इस वर्ष कांगड़े की एक पुराने पुस्तकालय से प्राचीन किताब मिली है। उसमें जो वंशावली दी गई है, वह और सत्यार्थप्रकाश में दी गई राजवंशावली में एक दो नामों को छोड़कर कोई अन्तर नहीं है। इसलिये ऋषिदयानन्द का यह लिखना कि वे इसको और अनुसन्धान करने के लिए दे रहे हैं, सर्वथा उपयुक्त है। आज जो इतिहास पढ़ाया जा रहा है, उससे यह भिन्न है। पृथ्वी-राज रासो की अनैतिहासिकता इससे स्पष्ट है।

शाहबुद्दीन गौरी ने यहाँ कुछ वर्ष राज्य किया था, यह तो मुस्लिम ऐतिहासिक लेखक भी मानते हैं। परन्तु वह गजनी में गड़बड़ी होने पर बुला लिया गया था। उसके बाद गुलामवंश का राज्य शुरू हुआ। यहाँ कड़ी टूटती नहीं, केवल बदलती हैं। कुतुबमीनार के नीचले भाग में संस्कृत के लेख हैं। उनको फिर से पढ़ना चाहिये। इससे ज्ञात होगा कि इस मीनार का निर्माता वस्तुतः पृथ्वीराज ही है, या उसका कोई वंशज। यदि उसका कोई वंशज हो तो उससे ऋषि की कही बात की प्रामाणिकता में अभिवृद्धि होगी और भारत का अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज नहीं यशपाल माना जायगा।

चाहो यदि लेना आप जग में आनन्द सच्चा,
परम पुनीत प्रभु-भक्ति-मकरन्द का।
चाहो तरना जो अंध-अविद्या-अगम-सिन्धु,
चाहो करना विनाश दुःख-दैन्य-फन्द का।
चाहो भरना जो सत्य ज्ञान से हृदय-कोष,
चाहो भण्ड फोड़ना पाखण्ड छल छन्द का।
चाहो करना निवृत्ति शंकाओं की तो अवश्य,
पढ़लो सत्यार्थ प्रकाश दयानन्द का।

द्वादश समुल्लास के आधार पर

चारवाक
बौद्ध
और
जैन मत विवेचन

● ● ●

संसार में नास्तिकता का आरम्भ कहाँ से हुआ, इस विषय पर तो पर्याप्त खोज की आवश्यकता है किन्तु यह तो निर्णीत सत्य है कि इस की आधारशिला "खाओ पियो और मौज उड़ाओ" पर आधारित है।

इसी विचार धारा के पोषक, चारवाक मत की विवेचना प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान प्रो० रत्नसिंह एम० ए० ने की है।

बौद्ध मत को सत्य और शांति का प्रतीक मान सर्वत्र इसका प्रसार आज राज्य भी कर रहा है। 'जैन' मत के सम्बन्ध में भी सत्य प्रगट नहीं है यह दोनों मत वस्तुतः महा-अंधकार के प्रतीक हैं। अतः सत्य असत्य के निर्णय के लिए ऋषि ने इन का वास्तविक स्वरूप चित्रित किया है।

प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने ऋषि का मंतव्य सभी को समझाने क मार्ग दर्शन किया है—विश्वास है कि नास्तिकता के प्रसारक इन मतों से सभी सावधान हो सकेंगे—

—सम्पादक

● ● ●

चार्वाक मत समीक्षा

प्रो० रत्नसिंह एम० ए०

चार्वाक मत का प्रारम्भ

चार्वाक मत नास्तिकता का पर्यायवाची है। यह एक जड़वादी सिद्धान्त है। दर्शनशास्त्र में जड़वाद उस सिद्धान्त को कहते हैं जिसके अनुसार जगत् का मूल तत्व जड़ या पुद्गल होता है। मनस् अथवा चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती वरन् पुद्गल के विकार होते हैं। चारवाक मत की मुख्य मान्यतायें ये हैं:—जगत् की उत्पत्ति चार भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) से होती है, ईश्वर, जीवात्मा, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की कोई सत्ता नहीं है। धर्म, मोक्ष, स्वर्ग आदि धूर्त पण्डितों की कल्पनाएँ मात्र हैं। वेद पाखण्डियों की रचना है। जीवन का मुख्य लक्ष्य खाना पीना और मौज उड़ाना है।

भारतीय अन्य दर्शनों की भांति चारवाक दर्शन का अपना कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। इस दर्शन का परिचय अन्य दर्शनों की पुस्तकों में इस दर्शन के खण्डन में दी हुई सामग्री से ही प्राप्त होता है। काल की दृष्टि से यह दर्शन अति प्राचीन है। बीज रूप से इस विचारधारा का उल्लेख हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है। इस मत की एक मान्यता यह है कि मृत्यु के

उपरान्त शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा नामक कोई तत्व शेष नहीं रहता यह विचारधारा कठोपनिषद् में यमनचिकेता संवाद में स्पष्ट दिखाई देती है। नचिकेता यम से पूछता है—"ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥" अर्थात् मरे हुए मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं रहता है और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'; आपसे मैं इसे जानना चाहता हूँ, यम उत्तर देता है कि 'न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।' अर्थात् धन के मोह से अन्धे हुए और प्रमाद करने वाले उस मूर्ख को परलोक का साधन नहीं सूझता। ऐसे मूर्ख यह समझते हैं कि यही लोक है, परलोक नहीं है।

इससे सर्वथा स्पष्ट यह है कि उस समय यह विचार प्रचलित था (अल्प संख्या में या बहु संख्या में, यह कहना कठिन है) कि परलोक व पुनर्जन्म नहीं होता है और मरने के बाद आत्मा की सत्ता नहीं रहती। जैसा ऊपर लिखा गया है, यही चार्वाक की मान्यता है। छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ८ खण्ड ८ में स्पष्टतः चार्वाक विचारधारा मिलती है। वहाँ शरीर को ही आत्मा कहा गया है। देह को ही इस लोक में पूजनीय और सेवनीय माना गया है। बृहदारण्यको-पनिषद् और श्वेताश्वेतरोपनिषद् में भी चार्वाक विचारधारा पाई जाती है। उपनिषदों के अतिरिक्त महाभारत, भगवद्गीता, और विष्णु पुराण में भी हमें चार्वाक सिद्धान्तों का किसी न किसी रूप में उल्लेख मिलता है।

अति प्राचीन होने के कारण ही विद्वानों के लिए यह निर्णय करना अति कठिन हो रहा है कि चार्वाक मत का जन्मदाता कौन था। अधिकतर विद्वान् बृहस्पति नामक पुरुष को इस दर्शन का प्रवर्त्तक मानते हैं। इस मत का नाम-करण चार्वाक क्यों किया गया, इस विषय में भी सब एकमत नहीं है। एक विचार के अनुसार चार्वाक नामक एक व्यक्ति ने जड़वाद मत प्रचलित किया। बाद में चलकर उसके नाम पर जड़वाद को चार्वाक कहने लगे। दूसरे विचार में चार्वाक शब्द 'चर्व' धातु से निकला है जिसका अर्थ चबाना अथवा खाना है। अतः खान-पान पर अधिक बल देने वाले मत को चार्वाक कहने लगे। चार्वाक दर्शन की बातें सर्वसाधारणजनों को सुनने में प्रिय लगती हैं। अतः

कुछ विद्वानों के अनुसार मधुर वचन (चारुवाक्) बोलने के कारण यह मत चार्वाक कहलाया। चार्वाक मत को लोकायत मत भी कहा गया है क्योंकि यह लोगों में फैला हुआ (लोक+आयत) है। इसी आधार पर एक जड़वादी या भौतिकवादी को लोकायतिक भी कहते हैं।

बौद्ध और जैन भी नास्तिक हैं। चार्वाकों के समान वे भी वेद और ईश्वर की निन्दा करते हैं और जगत् की रचना बिना चेतन निमित्त कारण के मानते हैं। परन्तु बौद्ध और जैनों का चार्वाक मत से कुछ भेद भी है। वे प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं। परन्तु चार्वाक इनमें विश्वास नहीं करते। अब चार्वाक मत के मुख्य सिद्धान्तों पर आगे विचार किया जाता है।

प्रमाण विचार

चार्वाक-दर्शन का मूलाधार उनकी ज्ञान-मीमांसा-सम्बन्धी विचारधारा है। ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत ज्ञान प्राप्त करने के साधनों पर भी विचार किया जाता है। चार्वाक लोग प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानते हैं। अपनी इस धारणा को सिद्ध करने के लिए चार्वाक दर्शन के निम्नलिखित तर्क हैं:—

यदि अनुमान एक प्रमाण है तो इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान सत्य और असंदिग्ध होना चाहिए। परन्तु अनुमान इस शर्त को पूरा नहीं कर पाता। पर्वत पर धूम्र देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। इस अनुमान में हम ज्ञात से अज्ञात अथवा प्रकाश से अन्धकार की ओर जाते हैं। नैयायिक व्याप्ति के आधार पर इसे उचित ठहराते हैं। परन्तु चार्वाक दार्शनिकों के अनुसार व्याप्ति असम्भव है। कुछ स्थानों पर अग्नि के साथ धूम्र देखने से यह सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता कि जहाँ-जहाँ धूम्र है वहाँ-वहाँ अग्नि है। एक सामान्य नियम तभी बनाया जा सकता है जब कि हमने उस प्रकार की सभी घटनाओं का प्रत्यक्ष किया हो। किसी मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह संसार में सब समय (भूत, वर्तमान और भविष्य) और स्थानों की अग्नि और धूम्र को देख सके। और ऐसा किए बिना यह सामान्य नियम बनाया नहीं जा सकता कि जहाँ धूआँ होता है, वहाँ अग्नि भी होती है। अतः व्याप्ति

असम्भव है। स्पष्टतः प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति की स्थापना नहीं हो सकती। और ना ही यह किसी अन्य अनुमान पर आधारित की जा सकती है क्योंकि उससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। शब्द के द्वारा ही व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती क्योंकि शब्दों की प्रामाणिकता भी तो अनुमान पर ही निर्भर है।

चार्वाक मत का खण्डन

यदि किसी चार्वाक से प्रश्न किया जाये कि क्यों ना प्रत्यक्ष को भी अप्रामाणिक प्रमाण मान लिया जाये तो वह इसका क्या उत्तर देगा ? या तो वह मौन हो जायगा या कहेगा कि प्रत्यक्ष प्रामाणिक है क्योंकि यह संदिग्ध नहीं है। दूसरे विकल्प में वह प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता के लिए उसी अनुमान की सहायता ले रहा है जिसका कि वह खण्डन करना चाहता है। दूसरे यदि चार्वाक का यह कथन है कि प्रत्यक्ष की मान्यता उसकी असंदिग्धता एवं निश्चितता पर आधारित है तो वही नियम अनुमान तथा शब्द पर भी लागू होता है। और यदि यह कहा जाये कि अनुमान तथा शब्द द्वारा कभी-कभी भ्रम उत्पन्न हो जाता है तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसा तो प्रत्यक्ष द्वारा भी कभी हो जाता है।

व्याप्ति को सोपाधि बतलाते हुए चार्वाक का तर्क है कि भविष्यकाल में अथवा किसी अन्य स्थान पर सम्भव है वैसा न हो। यह तर्क स्वयं अनुमान पर आधारित है क्योंकि भविष्य अथवा अन्य स्थान प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अनुमान पर निर्भर है।

शब्द (वेद) भी अप्रामाणिक है

चार्वाक मतानुसार शब्द प्रमाण भी एक प्रकार के अनुमान पर ही आधारित है। हमें प्रत्येक आप्त पुरुष के कथन में विश्वास करना चाहिए क्योंकि सभी आप्त जनों के वाक्य प्रामाणिक एवं विश्वस्त होते हैं, ऐसा कथन स्वयं एक अनुमान है। और अनुमान स्वयं प्रामाणिक नहीं है। अतः अनुमान पर आधारित शब्द प्रमाण कैसे प्रामाणिक हो सकता है ? जहाँ तक वेदों का सम्बन्ध है उन्हें किसी भी अवस्था में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि वेदों में झूठ, व्याघात और पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं। वेद के रचयिता भांड

धूर्त और निशाचर हैं जिनका काम अज्ञानी और सीधे-साधे लोगों को फंसाकर अपनी जीविका चलाना है। धूर्त पण्डितों ने वेद में लिखा है कि घोड़े के लिङ्ग को स्त्री ग्रहण करे उसके साथ समागम यजमान की स्त्री करे। वेद में मांस भक्षण का भी विधान है।

आलोचना

वेद धूर्त पुजारियों की रचना नहीं बल्कि प्राणिमात्र के हित के लिए सृष्टि के आरम्भ में परम दयालु परम पिता परमात्मा द्वारा चार ऋषियों को दिया हुआ ज्ञान है। वेद में माँस-भक्षण तथा अश्व के साथ स्त्री के समागम सदृश अश्लील बातें कहीं नहीं लिखी हैं। महीधरादि धूर्त टीकाकारों ने वेद मन्त्रों के अश्लील अर्थ किए हैं। उन्हीं को पढ़कर चार्वाक लोगों ने वेदों की निन्दा कर डाली। इसमें दोष वेद का नहीं बल्कि चार्वाकों का है। उन्हें चाहिए था कि वे मूल चार वेदों की संहिताओं का अध्ययन करते और फिर वेद के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करते। निश्चित है कि उस अवस्था में उनकी सम्मति वर्तमान से सर्वथा विपरीत होती।

तत्त्व विज्ञान

चारवाक तत्त्व विज्ञान का आधार उनका ज्ञान मीमांसा है। प्रमाण विचार के अन्तर्गत बतलाया गया है कि चारवाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अप्रत्यक्ष तत्वों (ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, परलोक आदि) की सत्ता से उन्हें इन्कार करना पड़ा और जड़ को एक मात्र तत्व स्वीकार किया।

चार प्रकार के तत्त्वों से जगत का निर्माण—

अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाँति चारवाक जगत् की उत्पत्ति पाँच भूतों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से नहीं मानते। उनके विचार में जगत् की उत्पत्ति आकाश के अतिरिक्त शेष चार भूतों से होती है। आकाश की सत्ता को वे इसलिए स्वीकार नहीं करते क्योंकि इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। आकाश की सत्ता अनुमान से सिद्ध है और अनुमान चारवाक दार्शनिकों की दृष्टि में अप्रामाणिक है।

आत्मा का अस्तित्व नहीं है

प्रत्यक्ष को एक मात्र प्रमाण मानते हुए चारवाकों से यह पूछा जा सकता है कि मानस प्रत्यक्ष द्वारा हमें क्या अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष नहीं होता और क्या इन प्रक्रियाओं में हमें चेतना का प्रत्यक्ष नहीं है ? चेतना जड़ पदार्थों का गुण नहीं होता। अतः चेतना का प्रत्यक्ष स्पष्टतः एक अभौतिक तत्व जीवात्मा की सत्ता को सिद्ध करता है। इसके उत्तर में चारवाकों का कहना है कि चेतना का तो प्रत्यक्ष होता है अवश्य परन्तु इससे आत्मा जैसे किसी अभौतिक तत्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। चेतना का प्रत्यक्ष हमें शरीर में ही होता है अतः चेतना शरीर का ही एक गुण है। चैतन्य विशिष्ट देहएव आत्मा। हम चेतन शरीर के अतिरिक्त और किसी आत्मा को प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जानते। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जड़ पदार्थों से जीव अथवा चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। जो गुण कारण में नहीं है वह कार्य में कैसे उपस्थित हो सकता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु चारो तत्वों में चैतन्य का अभाव है। अतः इनसे बने हुए शरीर में चैतन्य कैसे उत्पन्न हो गया ? क्या शरीर में चेतना की उपस्थिति आत्मा को सिद्ध नहीं कर रही है ? चारवाक का उत्तर है कि जिस प्रकार पान सुपारी और चूने में किसी में भी लाल रंग नहीं है परन्तु उनको एक विशेष ढंग से मिलाने पर लाल रंग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार इन भूतों के संगठन से (शरीर रूप में) चैतन्य प्रकट हो जाता है। दैनिक व्यवहार में भी हम आत्मा और शरीर को एक मानकर चलते हैं। "मैं मोटा हूँ" "मैं लंगड़ा हूँ" आदि वाक्य यही सिद्ध करते हैं कि शरीर ही आत्मा है। शरीर की मृत्यु के साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है अतः पुनर्जन्म होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।

आलोचना

यदि चेतना का कारण शरीर है तो शरीर के स्थिर रहते हुए उसमें चेतना अवश्य रहनी चाहिए। परन्तु मृतक शरीर में चेतना का अभाव रहता है। इससे सिद्ध है कि चेतना शरीर का गुण अथवा परिणाम नहीं है। दूसरे यद्यपि चेतना शरीर में है परन्तु इससे यह आवश्यक नहीं है कि वह शरीर का गुण हो। गर्म पानी में उपस्थित गर्मी का कारण पानी नहीं है। गर्मी तो आग का गुण

हैं। इसी प्रकार चेतना शरीर का नहीं बल्कि आत्मा का गुण है। तीसरे शरीर परिवर्तनशील है। अतः यदि चेतना उसका गुण है तो उसे भी परिवर्तन शील होना चाहिए और यदि चेतना परिवर्तन शील है तो फिर बाल्यकाल की घटनाएं युवावस्था में कैसे स्मरण रह सकती हैं ? अतः पूर्व अवस्था की स्मृति यह सिद्ध करती है कि शरीर में भिन्न व स्वतन्त्र आत्मा नामक कोई द्रव्य अवश्य है जिसके कारण स्मृति सम्भव हो पाती है। चौथे यह मान भी लिया जाये कि चेतना जड़ तत्वों से उत्पन्न होती है तो यह भी मानना अनिवार्य होगा कि चेतना पहले से ही जड़ तत्वों में बीज रूप में निहित थी और बाद को वह प्रकाश में आ गयी। तैल बालु से नहीं निकल सकता क्योंकि वह उसमें निहित नहीं है और वह सरसों से इसलिए निकलता है कि वह बीज रूप में उसमें समाया है।

ईश्वर का अनस्तित्व

चारवाक ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते। आस्तिक लोग ईश्वर की सत्ता में एक यह युक्ति दिया करते हैं कि जगत् एक कार्य है, अतः इसका रचयिता अवश्य होना चाहिए। जैसे घट अपने निमित्त कारण कुम्भकार के बिना नहीं बन सकता, उसी प्रकार केवल जड़ तत्वों के संयोग से बिना निमित्त कारण ईश्वर के जगत् की रचना नहीं हो सकती। चारवाक यह उत्तर देते हैं कि जड़ तत्वों का आपस में मिलने का स्वभाव है अतः जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से हो जाती है।

आलोचना—बिना चेतन परमेश्वर के निर्माण किए जड़ पदार्थ स्वयं आपस में स्वभाव से नियम पूर्वक मिलकर जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकते। जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो वस्तुओं का विनाश कभी न होवे और विनाश भी स्वभाव से माना जाये तो उत्पत्ति न होवे। और यदि दोनों विरोधी गुण जड़ पदार्थों में माने जायें तो न उत्पत्ति होवे और न विनाश। परन्तु वर्तमान में हम उत्पत्ति और विनाश दोनों देखते हैं। अतः यह कार्य किसी चेतना सत्ता द्वारा संचालित हो रहा है। वही ईश्वर है।

आचार विचार

भारतीय दर्शनों में अपवर्ग या मोक्ष-प्राप्ति को जीवन का अन्तिम लक्ष्य बतलाया गया है। चारवाक इसे भी स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि

मोक्ष या स्वर्ग की प्राप्ति मरने के बाद ही होती है। और मरने के बाद आत्मा जैसी कोई सत्ता शेष रहती नहीं अतः स्वर्ग या मोक्ष के तथाकथित आनन्द का भोग कौन करे ? वस्तुतः स्वर्ग और नरक पुरोहितों की कल्पनाएं मात्र हैं। जीवन का परमोद्देश्य सुख-प्राप्ति है। जब तक जीवें तब तक सुख से जीवें। जो घर में पदार्थ न हो तो ऋण लेके सुख भोगे। धर्म और मोक्ष निरर्थक हैं। केवल अर्थ और काम के लिए ही मनुष्य को प्रयत्न शील रहना चाहिए।

यज्ञ में पशु बलि और श्राद्धों का खण्डन करते हुए चारवाक लिखते हैं— जो यज्ञ में पशु को मार होम करने से वह स्वर्ग को जाता हो तो यजमान अपने पितादि को मार होम करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजता ? जो मरे हुए जीवों का श्राद्ध और तर्पण तृप्ति कारक होता है तो परदेश में जाने वाले मार्ग में निर्वाहार्थ अन्न वस्त्र और धनादि को क्यों साथ ले जाते हैं ? जो मर्त्यलोक में दान करने से स्वर्गवासी तृप्त होते हैं तो नीचे देने से घर के ऊपर स्थित पुरुष तृप्त क्यों नहीं होता ?

आलोचना—पशु मार कर होम करना. वेदादि सत्य शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा और मृतकों का श्राद्ध तर्पण करना कपोल-कल्पित है क्योंकि यह वेदादि सत्य शास्त्रों के विरुद्ध होने से भागवतादि पुराणमत वालों का मत है इसलिए चारवाकों ने यज्ञ में पशुहिंसा और मृतक श्राद्ध का जो खण्डन किया है वह तो ठीक ही है। परन्तु उनका यह मानना कि जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक ऐन्द्रिक सुख प्राप्ति है, उचित नहीं है। ऐन्द्रिक सुख क्षणिक होता है और उसके अधिक मात्रा में भोगने से इन्द्रियों की शक्ति अन्ततः क्षीण हो जाती है। सच्चा सुख-वासनाओं की तृप्ति नहीं वरन् उनके संयम तथा मार्गान्तीकरण से प्राप्त होता हैं।

बौद्ध जैन मत विवेचन

पं० अमरसिंह "आर्य पथिक"

अब से लगभग २५ सौ वर्ष पहिले रोहिणी नदी के किनारे कपिलवस्तु नामक नगरी के राजा शुद्धोधन के दो रानियाँ थीं। एक महामाया, दूसरी प्रजापती, पहली रानी महामाया से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम शाक्यसिंह गौतम रक्खा गया। बौद्ध लोग उसको ही सिद्धार्थ कहते हैं, वह युवावस्था में ही साधु हो गये और बुद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्हीं के चेलों ने उनके नाम पर बौद्ध-मत चला दिया। बुद्ध का मत होने से इसका नाम बौद्धमत है पर इसका अर्थ इस प्रकार किया जाता है।

बुद्ध्या निवर्तते स बुद्धः

जो बात बुद्धि में आवे अर्थात् बुद्धि से सिद्ध हो उसको माने, जो बुद्धि में न आवे, उसको न माने वह बुद्ध है।

मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना

मनुष्यों की बुद्धियां—मतियां भिन्न २ प्रकार की होती हैं। इसलिये थोड़े ही समय में बौद्धों में अनेक भेद हो गये। महायान और हीनयान ये दो भेद

प्रसिद्ध ही हैं। कई ग्रन्थों में बौद्धों के १८ भेद बताये हैं, चार भेद ये प्रसिद्ध हैं—१ माध्यमिक, २ योगाचार, ३ सौत्रान्तिक ४ वैभाषिक। १ माध्यमिक सब कुछ शून्य ही मानता है, वह जितने पदार्थ देखे और कहे जाते हैं, वह सब शून्य ही शून्य है। प्रत्येक पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व नहीं था विध्वंस के पश्चात् न रहेगा, शून्य था शून्य हो जायगा। मध्य में जो दीखता है वह भी दूसरी वस्तु पर दृष्टि और ध्यान जाते ही शून्य हो जाता है और जो कुछ दीखता है वह स्वप्नवत् ही दीखता है।

माध्यमिक

का यह भारी भ्रम है। जो सब शून्य हो तो शून्य का देखने वाला जानने वाला भी शून्य ही होगा क्या ? यदि वह भी शून्य होगा तो वह कैसे किसी को देखेगा और कैसे जानेगा ? और शून्य को भी को कोई कैसे देखेगा ? अतः सिद्ध है कि सब शून्य मानना बुद्धिमत्ता नहीं है, ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ स्पष्ट सिद्ध हैं।

योगाचार—

केवल ज्ञान को मानता है, और बाहर की वस्तुओं को नहीं मानता। वह कहता है कि—वस्तु ज्ञान में तो है पर बाहर नहीं है। जैसे वस्तु न होने पर भी स्वप्न में दिखाई देती है। इसी में संसार में सब कुछ न होते हुए भी दिखाई देता है।

यह मन्तव्य भी सर्वथा मिथ्या है। स्वप्न में भी वह ही वस्तु दिखाई देती है, जो वास्तविक रूप में कभी न कभी और कहीं न कहीं देखी हो, इसी कारण जन्मान्ध को रूप का स्वप्न कभी नहीं आता है। क्योंकि वास्तविक रूप उसने कभी देखा ही नहीं। स्वप्न और जाग्रत में क्रम का भेद तो हो जाना संभव है। जाग्रत में सब कुछ क्रमबद्ध देखा गया और स्वप्न में कभी कुछ दिखाई देने लगा और कभी कुछ। कभी कहीं और कभी कहीं। इसलिए स्वप्न का दृष्टांत विषम है। और उनके मन्तव्य का खण्डन ही करता है। और जो योगाचार बाह्य शून्य मानता है तो जो पर्वत बाहर न होता हुआ इसलिए दिखाई देता है, कि भीतर ज्ञान में है तो वह पर्वत जो बाहर दिखाई देता है वह भीतर होना चाहिए. यदि कहें कि—भीतर है, तो भीतर इतना स्थान, इतना अवकाश कहाँ

है, जिसमें पर्वत समा सके। यदि कहें कि भीतर भी पर्वत नहीं है पर्वत का ज्ञान ही है तो भ्रम हुआ। भ्रम भी उसी का होता है। जो वस्तु कभी कहीं देखी हो, बिना देखी का भ्रम भी नहीं होता है। जो वस्तु बाहर भी नहीं और भीतर भी नहीं उस के लिए तीसरा स्थान बताना चाहिए और यदि न बाहर है, न भीतर, न कहीं अन्यत्र फिर भी वह भीतर दिखाई देती है तो उसका ज्ञान भी मिथ्या, उसका दिखाई देना भी मिथ्या, और योगाचार का यह मन्तव्य भी सर्वथा मिथ्या है।

सौत्रान्तिक

बाहर वस्तु का अनुमान मानता है। वह कहता है कि—बाहर कोई पदार्थ साङ्गोपाङ्ग पूरा दिखाई नहीं देता है। किन्तु पदार्थ के देश या एक अङ्ग का प्रत्यक्ष होने से शेष का अनुमान कर लिया जाता है।

यह भी सर्वथा मिथ्या कल्पना है, क्योंकि—प्रत्यक्ष का अर्थ ही पदार्थ का साङ्गोपाङ्ग दीखना है। इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों के सन्निकर्ष अर्थात् निकट सम्बन्ध से अव्यपदेश्य = संज्ञा का नहीं संज्ञी का अव्यभिचारी = सन्देह रहित व्यवसायात्मक = निश्चयात्मक ज्ञान का नाम ही प्रत्यक्ष है। और यहां जो सन्निकर्ष अर्थात् सम्बन्ध कहा है, वह छः प्रकार का होता है—१ संयोग, २ संयुक्त समवाय, ३ संयुक्तसमवेत समवाय, ४ समवाय, ५ समवेत समवाय, ६ विशेषण विशेष्य-भाव। विस्तार भय से इनकी व्याख्या यहाँ नहीं करते हैं। इनके होने पर पदार्थ का पूरा ज्ञान होता है। अनुमान उस पदार्थ में नहीं उसके कारण और परिणाम में होता है। अतः स्पष्ट है कि यह सौत्रान्तिक मत भी अज्ञान पर ही आधारित है।

वैभाषिक—

इसका मत है कि—बाह्य पदार्थ है, बाहर ही पदार्थ दिखाई देते हैं, भीतर नहीं, जैसे उदई वैसे भान : उनके चुटिया न उनके कान,

बौद्ध मत के मूल सिद्धान्त

क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यं।

इन चारों भावनाओं को चारों प्रकार के बौद्ध मानते हैं।

क्षणिकवाद—

प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में बदलता है। जो पदार्थ इस क्षण में है, वह दूसरे क्षण में वैसा नहीं रहेगा आदि।

यदि पदार्थ क्षणिक है तो उसका ज्ञान भी क्षणिक होने से प्रत्यभिज्ञा नहीं रहेगी, अर्थात् किसी को कोई बात कह कर कोई काम करके यह स्मरण नहीं होना चाहिए कि— मैंने यह बात कही थी, या वह काम किया था। क्योंकि— पदार्थ भी क्षण-क्षण में और हो जाता है। बात कहने या काम करने वाला व्यक्ति भी क्षण में, कुछ का कुछ हो जाता है। और ज्ञान भी क्षण-क्षण में बदलता है, तो फिर स्मरण कैसे रह सकता है ?

एक बौद्ध ने किसी बौद्ध की हत्या कर दी। न्यायाधीश भी बौद्ध था। न्यायाधीश ने पूछा कि—तुमने अमुक व्यक्ति की हत्या की, उसने कहा—कदापि नहीं की। न्यायाधीश ने कहा कि—कुछ लोग साक्षी देते हैं कि—हमारे सन्मुख उसने हत्या की। अभियुक्त ने कहा कि—न्यायाधीश महोदय ! मैं बौद्ध हूँ, आप भी बौद्ध हैं। जिसको मारा बताया जाता है, वह भी बौद्ध था। जो साक्षी देते हैं वह भी बौद्ध हैं। हमारा सिद्धान्त है कि—प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में परिवर्तित होता है। इसलिये न मैं अब रहा हूँ, न साक्षी वह रहे हैं। सब कुछ परिवर्तित हो गया। यदि मैंने किसी को किसी समय मारा होगा तो उस समय मैं और रहा हूँगा। इस समय और हूँ और साक्षी भी और रहे होंगे, इस समय और हैं। यदि इनकी साक्षी इस समय मानी जायगी तो अन्य के देखे हुए का अन्य साक्षी होगा। और यदि मैं मृत्यु दण्ड का भागी हूँगा तो अन्य के किए के अपराध का अन्य को फल भोगना पड़ेगा। जो कदापि न्यायानुकूल नहीं। सोचिये क्षणिकवाद को मानने वाला न्यायाधीश किसी को किस प्रकार दण्ड दे सकता है।

दुःखवाद—

सब संसार दुःख ही दुःख है और सुख कुछ नहीं तो सुख की अपेक्षा के बिना सुख की सिद्धि हो ही नहीं सकती है। जैसे रात्रि की अपेक्षा से दिन और दिन की अपेक्षा से रात्रि होती है। इसी तरह दुःख की अपेक्षा से सुख और सुख की अपेक्षा से दुःख होता है। अकेला दुःख ही मानना ठीक नहीं।

यदि सब संसार दुःख रूप होता तो किसी की इसमें प्रवृत्ति ही न होती। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दिखलाई देती है। इसलिए संसार केवल दुःख रूप नहीं हो सकता। इसमें सुख-दुःख दोनों ही हैं।

और बौद्ध लोग इसमें दुःख ही दुःख मानते हैं तो खान पानादि करना और पथ्य तथा औषध्यादि सेवन करके शरीर रक्षण करने में प्रवृत्त होकर सुख क्यों मानते हैं ? यदि कहें कि—हम प्रवृत्त तो होते हैं। परन्तु इसको दुःख ही मानते हैं। तो यह कथन ही सम्भव नहीं क्योंकि—जीव सुख जानकर प्रवृत्त और दुःख जानकर निवृत्त होता है। संसार में धर्म-क्रिया, विद्या सत्संग आदि सब श्रेष्ठ व्यवहार सुखकारक हैं। इनको बौद्धों के अतिरिक्त कोई भी विद्वान् और बुद्धिमान् मनुष्य दुःख का लिङ्ग नहीं मान सकता।

बौद्धों की द्वादशायतन पूजा—

अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितः।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनो बुद्धिरिति प्रोक्त द्वादशायतनं बुधैः।
द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धनये ।। बौद्धदर्शन

द्वादशायतन पूजा मोक्ष की देने वाली है, उस पूजा के लिए बहुत से धनादि पदार्थों को संग्रह करके द्वादशायतन पूजा अर्थात् शरीर में बारह वस्तुओं की सब प्रकार से पूजा करनी चाहिये। अन्य की पूजा करने से क्या प्रयोजन ?

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—कान, त्वचा, आंख, जीभ और नाक, पांच कर्मेन्द्रियां, वाणी, हाथ, पांव, गुदा और उपस्थ ये दश इन्द्रियां, मन और बुद्धि इन बारह की पूजा अर्थात् इनको आनन्द में प्रवृत्त रखना यह द्वादशायतन पूजा है। जब इन्द्रियों और अन्तःकरण की पूजा भी मोक्ष देने वाली है तो इन बौद्धों और विषयी जनों में क्या भेद रहा ? जो इनसे बौद्ध नहीं बच सके तो वहाँ मुक्ति भी कहाँ रही ? जहाँ ऐसी बातें हैं, वहाँ मुक्ति का क्या काम ?

सृष्टिकर्त्ता कोई नहीं—

इस विषय में जैन मत के पीछे लिखा जायगा, क्योंकि—चार्वाक्, बौद्ध और जैन तीनों नास्तिक, इस विषय में एक मत हैं अतः तीनों का वर्णन पूरा होने पर इस विषय पर थोड़ा सा लिखेंगे।

मोक्ष का लक्षण—

सौत्रान्तिक, वैभाषिक और योगाचार तीनों मुक्ति के विषय में यह मानते हैं कि—राग द्वेषादि जो वासनाएँ हैं इनसे चित्त चारों ओर से जलता रहता है। इन वासनाओं का उच्छेद ही 'निर्वाण' अर्थात् बुझ जाना है। न कि—विज्ञान की धारा का बुझना। माध्यमिक मानता है कि—विज्ञान की धारा भी बुझ जाती है। (विज्ञान की धारा ही आत्मा है) यह मुक्ति क्या ? यह तो पानी में डूब मरने या आत्मघात कर लेने के समान है।

वैदिक धर्म में तो मुक्ति का स्वरूप—मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का क्रमशः नाश होकर परब्रह्म की प्राप्ति के साथ परमानन्द का प्राप्त होना है।

जैन सम्प्रदाय

तीनों नास्तिक सम्प्रदायों के तीन दर्शन पृथक्-पृथक् हैं। चार्वाकों का चार्वाक् दर्शन, बौद्धों का बौद्धदर्शन और जैनों का आर्हत दर्शन। आर्हत दर्शन प्रवर्त्तक ऋषभदेव को मान जाता है। वह कब हुए, यह कोई जैन नहीं जानता है। महावीर स्वामी से पहिले ऋषभदेव सहित २३ तीर्थङ्कर और जैनियों में माने जाते हैं। २४ वें महावीर स्वामी कहे जाते हैं। इनका ही उत्पत्तिकाल ज्ञात है इनको २६ सौ वर्ष हुए हैं; पहिले २३ का किसी को कुछ पता नहीं।

जैनी लोग जैनमत को अनादि काल से चला आया मानते हैं। पर वास्तविकता यह है कि जैनमत बहुत नवीन है। और यह बौद्धमत में से ही निकला है। इस नवीन मत को अति प्राचीन बताने के लिये ही २३ तीर्थङ्करों के कल्पित नाम इनके साथ जोड़कर पानी में खोज दे दिया गया है।

आरम्भ में बुद्ध ही को जिन और जिन ही को बुद्ध कहा गया था। इसलिये बौद्ध और जैन एक ही सम्प्रदाय के दो नाम थे। पीछे दोनों नामों पर पृथक् २ आग्रह होने से दोनों पृथक् २ सम्प्रदाय कहलाने लगे। इन दोनों में भी अनेकानेक अवान्तर भेद हो गये। जैसे बौद्धों में १८ और इनसे भी अधिक भेद बौद्धों ने स्वयं स्वीकार किए हैं। इसी प्रकार जैनियों में भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दो प्रसिद्ध पृथक् २ मार्ग बन गये। जिनके साधु सर्वथा नंगे रहते हैं। शरीर पर एक

अंगुल भी वस्त्र नहीं रखते हैं, वह दिगम्बर कहाते हैं। अम्बर नाम वस्त्र का है। चारों दिशाएँ ही जिनका वस्त्र हैं। और वस्त्र कोई नहीं, वह दिगम्बर और जिन के साधु श्वेत वस्त्र पहनते हैं, और मुँह पर पट्टी बांधते हैं, वह श्वेताम्बर कहलाते हैं। उन्हीं में एक भेद अब तेरापन्थी और हो गया है।

जैनियों के दर्शनसार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र (गुजरात) में श्वेताम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ।

भाष्यचूर्णि में दिगम्बर मत की उत्पत्ति महावीर स्वामी के ६०९ वर्ष पीछे बताई है। इस प्रकार दोनों की उत्पत्ति को अभी पूरे दो सहस्र वर्ष नहीं हुए हैं।

जैन दर्शन एक शब्दाडम्बर ही है, यह आगे चल कर पता लगेगा। इसमें ५ अस्तिकाय माने गये हैं—१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ पुद्गलास्तिकाय, ५ जीवास्तिकाय। छठा—काल इसको अस्तिकाय नहीं कहते। अस्ति=है, काय=शरीर वा शरीर के समान।

मनुष्य के भीतर धार्मिक संस्कार और बाहर धर्माचरण तथा शास्त्र में प्रवृत्ति 'धर्मास्तिकाय' है। ऊपर जाने और उन्नति करने की प्रवृत्ति वाला जीव शरीरादि के बन्धन में है। इससे अनुमान होता है कि—भीतर और बाहर कुप्रवृत्ति है, इसी का नाम 'अधर्मास्तिकाय' है। जिसमें आना जाना और रहना होता है, वह 'आकाशास्तिकाय' है। वह दो प्रकार का है। एक 'लोकाकाश' पृथिवी द्यौ के मध्यम का आकाश जिसमें लोक है। और दूसरा 'अलोकाकाश' जिसमें कोई लोक नहीं, वह ऊपर का आकाश है। मुक्त जीव उसी में रहते हैं। वह मोक्षस्थान है। चौथा 'पुद्गलास्तिकाय' जो कारण रूप सूक्ष्म नित्य एकरस वर्ण गन्ध वाला द्विस्पर्श वाला कार्य का लिङ्गी पूरने और गलने स्वभाव वाला होता है। वह छः प्रकार का है। पृथिवी, जल, तेज, (अग्नि) और वायु ये चारों भूत और स्थावर (न चलने वाले वृक्षादि) और जंगम (चलने वाले) मनुष्यादि के शरीर, यह सब 'पुद्गलास्तिकाय' है। पाँचवाँ 'जीवास्तिकाय' है। जो चेतना लक्षण ज्ञानदर्शन में उपयुक्त अनन्त पर्यायों से परिणामी होने वाला कर्त्ता भोक्ता है। यह 'जीवास्तिकाय' तीन प्रकार का है—१ बद्धजीव, २ मुक्तजीव, ३ नित्यमुक्त जीव। नित्यमुक्त एक ही हैं। वह अर्हन्त

मुनि (ऋषभदेव) हैं। उनके नाम पर 'आर्हतदर्शन' है। अर्हत्=पूज्य, साधारण भाषा में 'अर्हन्त' और प्राकृत में 'अरिहन्त'=काम क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं के मारने वाले, कहीं कहीं 'अरुहन्त' भी पढ़ा गया है। अर्थात् फिर न उगने= जन्म न लेने वाला है। दूसरे मुक्त जीव जो ऋषभदेव को छोड़कर महावीर स्वामी तक २३ तीर्थङ्कर हैं। ये सब मुक्त हो गये। और ये सब ही जैनियों के परमेश्वर हैं। तीसरे बद्धजीव जो जन्म लेते, और मरते हैं। यह दो प्रकार के हैं—एक 'अमनस्क' मन रहित स्थावर वृक्षादि और दूसरे 'समनस्क' मन सहित मनुष्य, पशु आदि। ये पाँच 'अस्तिकाय' हैं। छठा—काल है वह 'अस्तिकाय' नहीं है।' इन पाँचों अस्तिकायों की नवीनता, प्राचीनता, परत्व, अपरत्व बताने वाला है।

जैनियों का इन अस्तिकायों का मानना ठीक नहीं, क्योंकि—धर्म और अधर्म द्रव्य नहीं, किन्तु गुण हैं, अतः यह दोनों जीवास्तिकाय में आ जाते हैं। इसलिए आकाश, परमाणु, जीव और काल मानते तो ठीक था। और जो ९ नव द्रव्य वैशेषिक में माने हैं, वे ही ठीक हैं। क्योंकि—पृथिव्यादि पांच तत्व, काल, दिशा, आत्मा और मन के ये नौ पृथक् २ पदार्थ निश्चित हैं। एक जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना यह जैन बौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है।

जैनियों का गोरखधन्धा सप्तभङ्गीन्याय

(१) स्यादस्ति. (२) स्यान्नास्ति, (३) स्यादस्ति च नास्ति च (४ स्यादवक्तव्यः, (५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च. (७) स्यादस्ति च नास्ति च वक्तव्यश्च। ये सात भङ्ग हैं। यहाँ स्यात् का अर्थ-कथञ्चित् है। उर्दू फारसी, का शब्द 'शायद' भी इसी का रूपान्तर वा द्योतक प्रतीत होता है।

घट वा पट किसी वस्तु का अस्तित्व कहना ही तो 'स्यादस्ति' यह पहला भङ्ग है, 'कथञ्चित् यह घट है।'

यह पहला घट नहीं. अथवा यह दूसरा घट नहीं। किसी प्रकार प्राप्यत्वादी रूप से उसका निषेध कहना हो तो 'स्यान्नास्ति' कथञ्चित् यह घट नहीं है, यह दूसरा भङ्ग है।

जब अस्तित्व और नास्तित्व दोनों को कहना हो तो 'स्यादस्ति च नास्ति च' 'स्यात् है स्यात् नहीं है' यह तीसरा भङ्ग है।

होना और न होना, दोनों का कहना अशक्य हो तो 'स्यादवक्तव्य:' स्यात् न कहने योग्य है। अर्थात् अनिर्वचनीय है, यह चौथा भङ्ग है।' पहला और चौथा भङ्ग एक साथ कहना हो तो 'स्यादस्ति' चावक्तव्यश्च' स्यात् है और अवक्तव्य है। यह पाँचवां भङ्ग है।

दूसरा और चौथा भङ्ग एक साथ कहना हो तो, 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' कथञ्चित् नहीं है। यह (भी) अवक्तव्य=न कहने योग्य है। यह छठा भङ्ग है। तीसरा और चौथा एक साथ कहना हो। 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च स्यात् है, और स्यात् नहीं है। और यह अवक्तव्य है तो यह सातवाँ भङ्ग है।

यह जैनियों का सप्तभङ्गी न्याय जैनियों का बनाया हुआ वाग्जाल, और शब्दाडम्बर ही है, और कुछ नहीं। यह सब एक 'अन्योऽन्याभाव' में साधर्म्य वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है।

न्यायदर्शन में चार प्रकार के अभाव कहे हैं। उनमें एक अन्योन्याभाव भी है। गौ-गौ तो है, पर वह घोड़ा नहीं है। 'गौ' में घोड़ापन का अभाव है। इसी प्रकार घोड़ा में गोपन का अभाव है। इसका नाम 'अन्योऽन्याभाव' है।

किन्हीं दो अथवा दो से अधिक वस्तुओं में कुछ गुण-कर्म-स्वभाव आकृति समान हों तो उसको 'साधर्म्य' कहते हैं और असमानता हो उसको वैधर्म्य' कहा जाता है, जैसे गौ' के भी चार पैर हैं और घोड़े के भी। 'गौ' के भी पूँछ होती है, और घोड़े के भी। यह दोनों में समानता या साधर्म्य है। और गौ के सींग होते हैं, घोड़े के नहीं, यह दोनों में असमानता या 'वैधर्म्य' है।

देखो! जीव का अजीव में, और अजीव का जीव में अभाव रहता ही है। जैसे जीव और जड़ प्रकृति के वर्तमान रहने से दोनों में 'सत्ता' का साधर्म्य है, और जीव के चेतन और प्रकृति के अचेतन (जड़) होने से वैधर्म्य है। प्रकृति में चेतनत्व नहीं है। और जीव में जड़त्व नहीं है। इस प्रकार विचार करने से सप्तभङ्गी और स्यादवाद का गोरखधन्धा, सब व्यर्थ हो जाता है।

इस सरल प्रकरण को छोड़ कर कठिन जाल रचना केवल अज्ञानियों को फँसाने के लिए ही होता है।

बौद्ध और जैन आरम्भ में एक ही थे। यह जैन परम्परा के ही प्रसिद्ध राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इतिहास तिमिर नाशक'

में लिखा है और संस्कृत के प्रसिद्ध कोष 'अमरकोष' में अमरसिंह पण्डित जो जैन था; उसने अमरकोष प्रथम काण्ड स्वर्गवर्ग के श्लोक १३-१४-१५, में कहा है कि—बुद्ध और जिन दोनों नाम एक ही शाक्यसिंह गौतम के हैं। बुद्ध से बौद्ध और जिन से जैन दोनों नाम एक ही सम्प्रदाय के हैं, यह स्पष्ट है।

ईश्वर और सृष्टि कर्त्तृत्व

चार्वाक्, बौद्ध और जैन तीनों ही किसी को सृष्टि कर्त्ता नहीं मानते हैं। जैन अपने २४ तीर्थङ्करों को ईश्वर कहते हैं। पर सृष्टि कर्त्ता उनको भी नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि—सृष्टि का बनाने वाला कोई नहीं है। यह चारों तत्वों के संयोग=वियोग से स्वयं ही बनती और बिगड़ती रहती है।

जो अनादि ईश्वर न होता तो 'अर्हन देव' के माता पिता आदि के शरीर का साँचा कौन बनाता। बिना संयोगकर्त्ता के यथायोग्य सर्वावयव सम्पन्न यथोचित् कार्य करने में उपयुक्त शरीर बन ही नहीं सकता है।

परमात्मा का ज्ञान से प्रत्यक्ष होता है। सृष्टि की अद्भुत रचना को देख कर उसके कर्त्ता का अनुमान होने में क्या संदेह हो सकता है।

जैसे जगत् में प्रत्यक्ष कोई भी काम बिना कर्त्ता के नहीं होता है। वैसे ही इस महत्कार्य का कर्त्ता के बिना होना सर्वथा असम्भव है।

जैन मत में जीव का आकार

शरीर के समान माना जाता है अर्थात् हाथी के शरीर में हाथी के शरीर के समान बड़ा और च्यूँटी के शरीर में च्यूँटी के समान छोटा। हाथी वाला जीव च्यूँटी के शरीर में जायगा। तो उतना छोटा हो जायगा अथवा सिकुड़ जायगा। और च्यूँटी का जीव हाथी के शरीर में जायगा, तो फैलकर बड़ा हो जायगा। जब तक आवागमन के बन्धन में रहेगा, तब तक इसी प्रकार फैलता सिकुड़ता रहेगा। जब जीव की मुक्ति हो जायगी। तब फैलना सिकुड़ना बन्द हो जायगा। यह कितने अज्ञान की बात है? यह सर्वथा बच्चों की सी बात है। फैलना सिकुड़ना विकार है। और विकारवान् पदार्थ नाशवान होता है।

★

त्रयोदश समुल्लास के आधार पर

ईसाई मत का वास्तविक रूप

देश में ईसाइयत आज भी फैल रही है। पिछड़ी जनता में सेवा के नाम पर उन्होंने जो जाल फैलाया है, वह सभी के लिए गम्भीर चेतावनी है। समय की मांग है कि हम अज्ञान और अंध-विश्वास पर आधारित ईसाइयत के सत्य रूप को समझ, इस के विष से देश को बचाने का संकल्प लें।

—सम्पादक

बाइबिल : कसौटी पर

श्री शिवपूजनसिंह "पथिक" बी० ए०,

ईसाई 'बाईबिल' को अपना परम प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। जिस प्रकार आर्य लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उसी प्रकार ईसाई भी 'बाईबिल' को ईश्वरीय ज्ञान मानने का दावा करते हैं। वेदों को तो पाश्चात्य विद्वान् भी ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं+ परन्तु बाईबिल को अभी मानने के लिये कोई उद्यत नहीं है। बाईबिल का ६३ व्यक्तियों ने मिलकर सङ्कलन किया है और उसमें परस्पर विरुद्ध बाते हैं। बहुत सी बातें विज्ञान के विरुद्ध भी हैं। बाईबिल के दो भाग हैं—एक ओल्ड टेस्टामेन्ट, दूसरा न्यू टेस्टामेन्ट। सम्प्रति ईसाई लोग 'न्यू टेस्टामेन्ट' मानते हैं और 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को केवल यहूदी ही प्रामाणिक मानते हैं, परन्तु दोनों भाग 'पवित्र धर्मशास्त्र' के नाम से विक्रय होते हैं।

'बाईबिल' में सृष्टि को वेडौल लिखा है। इससे इनका ईश्वर सर्वज्ञ ज्ञात नहीं होता है और न बाईबिल ईश्वरीय ज्ञान प्रतीत होता है।

'आदम' को ईश्वर को अपने स्वरूप में उत्पन्न होना लिखा है तो ईश्वर के सदृश आदम क्यों नहीं हुआ ? इससे तो ज्ञात होता है कि ईसाईयों का ईश्वर आदम के समान है।

यदि इनका परमात्मा सर्वज्ञ होता तो शैतान और धूर्त सर्प को नहीं बनाता। इनका ईश्वर कसाई के समान प्रतीत होता है जो यह आदेश देता है

+द्रष्टव्य "पाश्चात्यों की दृष्टि में वेद ईश्वरीय ज्ञान" (जयदेव ब्रदर्स आत्माराम पथ, बड़ौदा द्वारा प्रकाशित)

कि—हर एक जीता चलता जन्तु तुम्हारे भोजन के लिए होगा............"। (तौरेत पर्व ६। आ० १।३।४) परमात्मा की दृष्टि में सभी प्राणी उसके पुत्र के समान हैं उनको मरवा कर दूसरे को खिलाना महापाप है।

ईश्वर का बछड़े का मांस खाना भी जंगलियों की कहानी से कम नहीं है।

बाईविल में शव को दफनाने का वर्णन सर्वथा विज्ञान के विरुद्ध है।

आधुनिक वैज्ञानिक भी शव को जलाना उत्तम मानते हैं।

ईश्वर का बैलों की बलि और वेदी पर रक्त छिड़कवाना भी बर्बरता ही है।+

यह थोड़ा सा दिग्दर्शन 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' से कराया गया।

'न्यू टेस्टामेन्ट' में यीशु मसीह के जन्म से लेकर मृत्यु तक की चर्चा है।

बाईविल का मुख्य आचार्य मूसा था जो क्रोधी, हत्यारा, मिथ्यावादी था। वह विषयी था क्योंकि वह अक्षतयोनि कन्याओं को अपने लिए मँगवाता था। इस तरह की चर्चा तौरेत गिनती० प० ३१ में आई है।

'लय व्यवस्था' में भी ऊटपटांग बातें हैं, जहाँ लिखा है कि बलिदान की खाल याजक की होगी।

ईश्वर के लिए तो सभी जीव-जन्तु, पशु, पक्षी पुत्रवत् हैं। ईश्वर के नाम उन पशुओं का बलिदान करना बर्बरता है।

बाईबल में हजरत यीशु का जन्म अत्यन्त अद्भुत है, जो सर्वथा सृष्टिक्रम के विपरीत है। मरियम का पवित्रात्मा से गर्भवती होना उसके पाप का छिपाना है। किसी पुरुष से गर्भवती हुई होगी।

बाईविल "व्यवस्था-विवरण २२, २३, २४" में स्पष्ट लिखा है कि "यदि किसी कुँवारी कन्या के विवाह की बात लगी हो, और कोई दूसरा पुरुष उसे नगर में पाकर उससे कुकर्म करे, तो तुम उन दोनों को उस नगर के फाटक के बाहर ले जाकर, उनको पत्थरवाह करके मार डालना"।

बाईविल के इस आदेश से मरियम अपराधिनी हुई।

+द्रष्टव्य—"बाइबिल में वर्णित बर्बरता तथा अश्लीलता का दिग्दर्शन" (जयदेव ब्रदर्स, बड़ौदा से प्राप्य)

लूका जिब्राइल नामक स्वर्गदूत का मरियम के पास आकर विना पुरुष संयोग से पुत्र होने की बात का उल्लेख करता है। पर स्वर्गदूत के आने की बात नितान्त गप्प ही है।

'मत्ती' युसूफ के स्वप्न का वर्णन करता है और लूका जिब्राइल का मरियम के पास आना लिखता है। दोनों की बातों में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसलिए मरियम का परपुरुष से संग स्पष्ट ज्ञात होता है। यीशु को ईश्वर का इकलौता पुत्र मानना भी गप्प ही है।

ईसाई कहते हैं कि यीशु प्रभु थे, इन पर विश्वास करने से मुक्ति मिलेगी। परन्तु यह बात एकदम भ्रमपूर्ण है। वह मृत्यु से पूर्व दुःखी हुआ था इसलिए वह सच्चिदानन्दस्वरूप न था।

अपने कार्यों के लिए १२ शिष्यों से सहायता लेने के कारण वह सर्वशक्तिमान नहीं था।

वह न्यायकारी न था क्योंकि अंजीर के पेड़ को शुष्क हो जाने का श्राप दिया।

बाईबिल में उसे मनुष्य का पुत्र कहा गया है+।

उसे युसूफ बढ़ई का पुत्र कहा गया है×।

ईसाइयों का यह दावा ही भ्रमपूर्ण है कि यीशु परमात्मा का इकलौता पुत्र था, क्योंकि बाईबिल में अन्य लोगों को पुत्र कहा गया है। यथा यहोवा ने इस्रायल को अपना ज्येष्ठ पुत्र कहा है॥। दाऊद बादशाह को खुदा का पहिलौठा पुत्र कहा गया है।⁄

यीशु का उपदेश भी विचित्र था। उसने स्पष्ट कहा है कि—'मैं पृथ्वी पर मिलाप कराने नहीं वरन् तलवार चलवाने आया हूँ।"

"मैं पृथ्वी पर आग लगाने आया हूँ।"

+देखो मत्ती ९।६; मत्ती प० ८। आ० २०; मत्ती १०।२३, १२।४० १७।२१,

×देखो—यूहन्ना प० १। आ० ४५; मत्ती प० १३। आ० ५५।५६; लूका प० ३। आ० २३; मरकुस प० ६। आ० ३.

॥ निर्गमन प० ४। आ० २२

⁄ भजन संहिता प० ८९। आ० २६।२७

अपने शिष्यों को उपदेश देता था कि अपने कपड़े विक्रय करके तलवार क्रय करो।

यरूशलेम के मन्दिर में उसने निर्दोष पशुओं को पीटा जिससे वह अहिंसक नहीं, वरन् निर्दयी प्रकट होता है।

यीशु का यह उपदेश कि कोई तेरे दाहिने गाल में थप्पड़ मारे तो उसकी ओर दूसरा भी फेर दो, केवल प्रदर्शनमात्र था।

उसने कहा था कि—"मेरे पीछे चले आओ, तो मैं तुमको मनुष्यों के पकड़ने वाले बनाऊँगा।"

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि यीशु ने मनुष्यों को फँसाने के लिए मत चलाया था। उनके अनुयायी पवित्र भारतवर्ष में अपने जाल में मनुष्यों को फँसा-फँसा कर ईसाई बनाते हैं।

यीशु का गुरु, बपतिस्मा देने वाला 'यूहन्ना' था जोवनमधु और टिड्डियों का भोजन करता था। उसने यीशु को बपतिस्मा देते हुए भविष्यवाणी की थी—"मैं तो पानी से तुम्हें मन फिराव का बपतिस्मा देता हूँ, परन्तु मेरे जो बाद आने वाला है, वह मुझसे शक्तिशाली है; मैं उसकी जूती उठाने के योग्य नहीं, वह तुम्हें पवित्र आत्मा और आग से बपतिस्मा देगा।…"

—[मत्ती प० ३। आ० ११; लूका ३।१६; मरकुस १।७,८]

आज तक किसी भी पादरी ने आग से बपतिस्मा नहीं दिया, वरन् सभी पानी से ही बपतिस्मा देते रहे। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी आग के सामने बैठा कर शुद्धि करके वैदिक धर्म में दीक्षित करते थे। संभवतः ईसा के दीक्षा गुरु का निर्देश महर्षि दयानन्द जी की ही ओर हो। यीशु ब्रह्मचारी था पर उसका सम्बन्ध महिलाओं से भी था।

मरियम नामक एक महिला ने यीशु पर इत्र डाल कर उसके पांवों को अपने बालों से पोंछा था।

'गलील' में बहुत सी स्त्रियाँ उसकी सेवा करती थीं। ब्रह्मचारी जी को स्त्रियों से सम्पर्क करना उसे गर्त में गिरा देता है।

किसी के विवाह में शराब घटने पर यीशु ने छः मटकों में शराब बनाकर सबको पिलवाया।

उसका यह कार्य अनुचित था बाईबिल के कई स्थलों में शराब पीना बुरा कहा गया है।=

बाईबिल के हिन्दी अनुवाद में शराब के स्थान पर दाखरस लिखा गया है, पर दाखरस भी शराब ही है।•••

यीशु ने अपने शिष्यों से गदही को चोरवाया था, जिसका वर्णन करते हुए लूका और मरकुश एक जानवर, परन्तु मत्ती दो जानवरों का उल्लेख करता है। यह परस्पर विरोध क्यों ?

यीशु ने स्वयं गधे के बच्चे की चोरी की। क्या ईश्वर पुत्र का कार्य चोरी करना है ?

यीशु के चमत्कारिक कार्य भी जगत् को भ्रम में डालने वाले हैं। लंगड़े कोढ़ी तथा अन्य बीमारियों को चंगा करने का जो वर्णन है वह अतिशयोक्ति ही है। यदि पीयूषपाणि माना जाय तो ये बातें संभव हो सकती हैं परन्तु बाइबिल में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

'मत्ती' अंधों की संख्या दो और मरकुस तथा 'लूका' एक अंधा लिखता है इससे चमत्कार की बात गप्प ही प्रतीत होती है।

डीन फरार + व केनन माजले — नामक ईसाई विद्वान् चमत्कारों को मिथ्या बतलाते हैं।

ईसा का उपदेश है—"और विश्वास करने वालों में ये चिह्न होंगे वे मेरे नाम से दुष्टात्माओं को निकालेंगे, नई-नई भाषा बोलेंगे, साँपों को उठा लेंगे

= देखो—'इफसियों के नाम पौलुस प्रेरित की पत्री प० ५। आ० १-८, नीतिवचन २१। १७, यशायाह भविष्यवक्ता की पुस्तक प० २८। आ० ७

••• ईसाई मत का मासिक पत्र "जीवन का पानी" कानपुर, वर्ष ३, नवम्बर १९५० ई०, अङ्क ११, पृ० ११ में लिखा है—"शराब, जिसे हम कई नामों से पुकारते हैं यानी ब्रांडी, वाईन या दाखरस इत्यादि।"

+ "क्रिश्चियनीटी इन इण्डिया" पृष्ठ ५२ [सन् १९४१ ई० प्रथम संस्करण प्रयाग]

— वही।

और यदि वे नाशक वस्तु पीएं तो उनकी कुछ हानि न होगी। वे बीमारों पर हाथ रखेंगे और वे चंगे हो जाएंगे।······[मरकुस प० १६। आ० १७। १८। १६]

आज तक विश्व का कोई भी पादरी इन उपदेशों को सत्य नहीं प्रमाणित कर सका। क्या कोई पादरी काला साँप उठा सकता है ? विष खा सकता है और राजयक्ष्मा के रोगियों पर हाथ रख कर चंगा कर सकता है? त्रिकाल में भी कोई पादरी इन कार्यों को नहीं कर सकता।

ईसा मुक्तिदाता भी न था जैसा कि ईसाई मानते हैं। बाईबिल में स्पष्ट लिखा है—"······वह हर एक को उसके कामों के अनुसार बदला देगा। जो सुकर्म में स्थिर रह कर महिमा और आदर और अमरता की खोज में है उन्हें वह अनन्त जीवन देगा।"

—[रोगियों के नाम पौलुस प्रेरित की पत्री प० २। आ०६-७]

"हर एक को उसके कामों के अनुसार प्रतिफल देगा।"

—[मत्ती प० १६ आ० २७]

जब सबको अपने कर्मों के अनुसार ही फल मिलेगा तो ईसा को मुक्ति-दाता कहना व्यर्थ है।

ईसा को प्राणदण्ड अत्यन्त नृशंसता पूर्ण दिया गया था। परन्तु ईसा का भी दोष था, क्योंकि ईश्वर का न कोई पुत्र न कोई उसका पिता है। यदि ईसा परमेश्वर का पुत्र होता तो वह उसे बचाता। ईसा का मृत्यु से तीन दिन के बाद जीवित होना नितान्त गप्प है।—

योशु का ज़ीवन रहस्यमय था। वह १२ वर्ष की आयु में यरूशलम के मन्दिर में सो गया और ३० वर्ष की आयु से उपदेश देने लगा। १८ वर्ष के विषय में बाईबिल में कोई चर्चा नहीं है। वह इतने वर्षों तक भारतवर्ष में रहा।

— द्रष्टव्य—पं० गंगा प्र० उपाध्याय कृत "खुदा का बेटा" पृष्ठ१४, पं० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ कृत "आर्य समाज का इतिहास" प्रथम भाग, पृष्ठ २१४, श्री रामचन्द्र प्रसाद जी वकील कृत "ईसाई सिद्धान्त दर्पण" पृष्ठ ७७, द्वितीय संस्करण, सन् १९२८ ई०।

रूसी यात्री नोटोविश ने ईसा के सम्बन्ध में "दि अननोन लाइफ आफ क्राइस्ट" (The Unknown life of Christ) नामक पुस्तक लिखी थी जिसके ५ वें अध्याय में उसने लिखा है:—

"परमात्मा से भाग्यशाली बनाया हुआ युवा ईसा चौदह वर्ष की अवस्था में सिन्धु नदी के पार आया। वहाँ स्वयं आर्यों के बीच में निवास किया। वह जगन्नाथ और बनारस गया, जहाँ के शुक्ल ब्राह्मण पुरोहितों ने उसका स्वागत किया और उसको वेदों को पढ़ना सिखाया।"

ईसा भारत का ही शिष्य था और उस पर बौद्ध मत का प्रभाव था।•••

पं० नरदेव शास्त्री — पं० विश्वेश्वर जी सि० शिरोमणि × श्री सावलिया बिहारी वर्मा एम० ए० = प्रभृति विद्वान् भी नोटोविश के मत का समर्थन करते हैं।

परलोक वासी लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलक ने अपने "श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य "भाग ७, पृष्ठ ५९३ में स्पष्ट लिखा है कि ईसा भारत में आया था।

••• द्रष्टव्य—श्री गंगा प्रसाद जी ए० ए० कृत "दी फाउन्टेन हेड ऑफ रेलीजन" पृ० २५ से ३६ तक।

— "आर्य समाज का इतिहास "प्रथम भाग, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २०१ से २१७ तक।

× "महात्मा ईसा" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८५ व ८६।

= "विश्व धर्म परिचय" पृष्ठ ४०४ [प्रथम संस्करण पटना]

अज्ञान, अंधकार पर आधारित
ईसाई मत संसार को विनाश
मार्ग पर ले जाने में सहायक है।

इसाई मत का खोखलापन

पण्डित शांतिप्रकाश "शास्त्रार्थ-महारथी"

o o o

ऋषि दयानन्द के मत में अपने पराये का भेद केवल सैद्धान्तिक है। जो कोई भी किसी वैदिक सिद्धान्त को मानता और उसकी जितनी पुष्टि करता है वह उतना ही अपना और निकटस्थ है।

और जो कोई वैदिक सिद्धान्त से जितना दूर है, वह उतना ही दूरस्थ और पराया है। ऋषिराज ने इस १३ वें समुल्लास की अनुभूमिका के अन्त में लिखा है कि—

"जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं वे तो सबमें एकसे हैं, झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा और झूठा हो तो भी कुछ थोड़ा सा विवाद चलता है। यदि वादि प्रतिवादी सत्या-सत्य निश्चय के लिए वाद प्रतिवाद करें तो अवश्य निश्चय हो जाय।"

बड़ा सत्यार्थप्रकाश समु० १३ पृ० ४४१

इसी निश्चय के उद्देश्य से ही इस समुल्लास के लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। बाईबल का पूर्व भाग यहूदी तथा ईसाई दोनों मानते हैं। अन्तिम भाग इञ्जीलों के नाम से प्रसिद्ध है और पहिले की अपेक्षा छोटा है, इसे केवल ईसाई लोग मानते हैं। यहूदी नहीं मानते।

सम्प्रदायवाद महाभारत काल के पश्चात् चला है। सबसे पहिला मत जो वेदों की शिक्षा के लुप्त तथा अर्द्ध लुप्त होने पर चला, वह पारसी मत है। जिसे जरदुश्त ने स्थापित किया, इसका समय लगभग ४५ सौ वर्ष पूर्व का है।

यहूद मत का काल ३५०० वर्ष पूर्व तथा ईसाई मत दो सहस्र वर्ष के अन्तगत है। इसलाम का क्रम इसके ६०० वर्ष पश्चात् का है। इन सब मतों में काल की दूरी के साथ-साथ क्रमशः वैदिक मन्तव्यों से दूरी होती चली गई किन्तु अन्वेषण करने पर प्रत्येक मत का मूलाधार वैदिक धर्म ही सिद्ध होता है।

सभी मतों में एक ऐसी उच्च दशा के काल का वर्णन हैं जिसमें सर्वथा सच्चाई का प्रकाश ईश्वर की ओर से हुआ। उस युग के लोग धर्मात्मा थे। उसे स्वर्णिम युग कहा गया है जब कि विवाद न उठता था। उठता तो धर्म ग्रंथ के आधार पर समाप्त हो जाता था। तब मनुष्य जाति में कोई जन्म, संप्रदाय, भाषा, रंग रूप-मूलक भेदभाव न था। यही वैदिक युग है जिसकी रूप-रेखा सैमेटिक मतों में भूली-सी प्रतीत होती है। क्योंकि उस समय वेदों के सच्चे अर्थ लुप्तप्रायः थे। अलंकारों की व्याख्या बिगड़ गई थी। आख्यान घड़-घड़ कर वेदों के रूपक बिगाड़ लिये गए थे। धर्म का स्वरूप विकृत होकर विस्मृति पथ को प्राप्त हो चुका था। इसका निदर्शन बाईबल की तौरात वर्णित कथाओं से भली-भान्ति हो पाता है। देखिये तौरात के प्रथम पृष्ठ पर लिखा है कि—

"आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा और पृथिवी बेडौल तथा सूनी थी। और गहिराव पर अंधियारा था और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था।" पर्व १ आयत १-२ ॥

दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर का आत्मा कहना सर्वथा अनुपयुक्त है किन्तु बाईबल में दर्शन शास्त्र और तर्क को निषिद्ध घोषित किया है। ईश्वर का आत्मा कहने से वह शरीरी प्रतीत होता है जैसे मनुष्य का आत्मा कहने से शरीर सहित आत्मा अभिप्रेत है। आगे के वर्णन में ईश्वर के शारीरिक अवयवों का स्पष्ट वर्णन है। उसकी आत्मा पानी पर डोलती थी तो वह एकदेशी सिद्ध हुआ। सर्व व्यापक न होने से वह सृष्टिकर्ता सिद्ध नहीं हो सकता। अपूर्ण का वचन भी अपूर्ण होने से बाईबल सम्भ्रान्त पुस्तकों की श्रेणी में ही आने से बुद्धिमानों के लिए प्रमाण नहीं।

वास्तव में यहाँ जल शब्द का भाव वेद के "सलिल" और "आपः" आदि शब्दों से लिया गया प्रतीत होता है जो कि प्रकृति वाची शब्द हैं क्योंकि

ऋग्वेद में प्रलयावस्था का चित्रण करते हुए लिखा है कि—

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥
ऋ० १०।१२६।३

यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व अन्धकार से आवृत्त, रात्रि रूप में जानने के अयोग्य आकाश रूप सब जगत् तथा तुच्छ, अनन्त परमेश्वर के सम्मुख एकदेशी आच्छादित था। पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारण रूप से कार्यरूप में परिणत कर दिया।

इस मंत्र में सलिल शब्द के अर्थ प्रकृति के हैं जो एक प्रकार से अपने कारण रूप में प्रलयावस्था के कारण अन्धकारमय थी, तौरात में गहराव और अन्धेरे का वर्णन है जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तौरात का रचयिता इस मंत्र के उस समय के अपभ्रष्ट अर्थों को कहना चाह रहा है। सलिल शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ जल भी लोक में प्रसिद्ध है। अतः यहाँ प्रकृति में ईश्वर को व्यापक न लिख कर अपभ्रंश अर्थों के अनुसार उसकी आत्मा की कल्पना करके उसे पानी में डोलता हुआ वर्णित किया है। सृष्टि रचना क्रम में भी उपनिषद् की अधूरी और मिथ्या नकल की है। वह वचन निम्न प्रकार से हैं—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन: आकाश: संभूत:। आकाशाद्वायु:। वायोरग्निः। अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः रेतस: पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय:। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक। १

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारण रूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें ? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, उससे पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।

आकाश नित्य है, प्रलयावस्था में उसका अभाव व्यवहार के अभाव के कारण माना गया है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। व्यवहारावस्था में उपचार से प्रगट होना व्यंजित हुआ है, यह पूर्ण प्रलय के पश्चात् उत्पत्ति का

वर्णन है। तौरात के कर्ता इसकी वास्तविकता तक नहीं पहुँच सके। जिन्होंने आकाश की उत्पत्ति का वर्णन कर दिया। उत्पत्ति क्रम भी विचित्र रखा। सूर्य चौथे दिन और वनस्पति जगत् का तीसरे दिन उत्पन्न होना लिखा। यह वर्णन विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि वनस्पति जगत् सूर्य ताप के विना उद्भूत नहीं हो सकता। सूर्य के बिना उसकी उत्पत्ति से पूर्व तीन दिनों की गणना भी असंभव है।

तौरात ने ६ दिन में सृष्टि की रचना की पूर्णता कर दी। सातवें दिन ईश्वर जी के आराम का समय नियत करके संसार को उस दिन छुट्टी मनाने का आदेश दिया। अवज्ञा पर मृत्यु दंड की घोषणा की और लिखा कि सातवें दिन खुदा के छुट्टी मनाने के कारण आग भी जलाई जाए। किन्तु सारे ईसाई इस आदेश की अवज्ञा करने से मृत्यु दंड के अधिकारी सिद्ध होते हैं। न होगा बाँस न बजेगी बांसुरी। यदि बाईबल की शिक्षा पर ईसाई सरकारें आचरण करें तो संसार में कोई भी ईसाई मृत्यु दंड से मुक्त न हो सकेगा। यह बाईबल की दर्शन हीनता का ज्वलन्त प्रमाण है।

उपनिषद् ने पुरुष की उत्पत्ति तक का वैज्ञानिक क्रम रखा है। पुरुष को अन्न-रस-मय माना है किन्तु बाईबल उसे केवल मिट्टी से मानकर खुदा के हाथों की घड़न्त कहती है।

वैदिक ग्रन्थ स्त्री पुरुषों की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। बाईबल स्त्री की उत्पत्ति पुरुष से मान कर असंभव प्रमाण की कोटि में अमान्य सिद्ध होती है। वेद में पृथिवी के ऊँचे देश पर उत्पत्ति की संभावना प्रदर्शित की है और उसका नाम स्वर्गलोक रखा है। बाईबल इस रहस्य से वंचित होकर आकाश के कल्पित स्वर्ग की भूल-भुलैय्यों में व्यस्त है, जहाँ ईश्वर अपने साथियों समेत सैर करता हुआ अदम को ढूंढता और पुकारता है परन्तु वह नग्न होने के कारण वृक्षों की ओट में छिपा था। जिसे ईश्वर न देख सका, न जान सका।

वेद में बुद्धिवाद की पराकाष्ठा है। गायत्री मंत्र में बुद्धि के सुमार्ग गामी होने की प्रार्थना है किन्तु बाईबल में बुद्धि के फल को खाने का सर्वथा निषेध करके मनुष्य को अन्ध विश्वास के गहरे गर्त में गिरा दिया गया है।

बाईबल में शैतान की चर्चा वेद के इन्द्र और वृत्र के युद्ध अर्थात् सूर्य के

बादलों पर प्रहार की कथा के वास्तविक रूपक को न समझने से हुई है। शैतान साँप बनकर स्वर्ग में प्रविष्ट हुआ। वेद में सूर्य की प्रखर किरणों के वज्रोपम प्रहार से जलकणों को छिपाए रखने वाला मेघरूपी असुर अपनी जलधाराओं के साथ पृथिवी पर गिर कर उसे हरा भरा बना देता है। जिससे सस्य श्यामला भूमि स्वर्ग कहलाने लगती है। वैदिक शब्द अहि के अर्थ मेघ अथवा बादल के हैं। तौरात के लेखक तक इसका लोकप्रसिद्ध अर्थ केवल साँप ही पहुँचा, जिसे उसने आदम को बहकाने के लिए खुदाई स्वर्ग में पहुँचा दिया। और शापरूप से उसे भूमि पर गिरा दिया गया तब आकाश में स्वर्ग के प्रत्येक द्वार पर कृपाण पाणि फरिश्तों का पहरा लगा दिया और खुदा शैतान के हमले से सुरक्षित हो पाया।

स्पष्ट है इन कथानकों में वैदिक कथाओं के अपभ्रंश हुए भावों का अधूरा खाका खेंचने का प्रयत्न किया गया है। जिसमें न कोई सार है और न किसी तत्त्व का यथार्थ दिग्दर्शन। ईसाई तथा यहूदी इस तथ्य को जितना शीघ्र समझ सकें; संसार का तथा उनका भला है।

सारी बाईबिल की दार्शनिक इतिश्री इतनी ही है। तैत्तिरीयोपनिषत् में आकाश क्रम से, छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जलदिक्रम से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। जब महाप्रलय हो तो आकाशादि क्रम और जब खंड प्रलय हो तो अग्न्यादि क्रम से सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन लिखा है। यदि बाईबिल के सृष्ट्युत्पत्ति के वर्णन को खंड प्रलय मानकर जल क्रम से उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाए तो भी यह वर्णन उपयुक्त नहीं क्योंकि इसमें आकाशादि की उत्पत्ति भी लिखी है।

आदम की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि:—

"और यहूदा परमेश्वर ने आदम को भूमि की मिट्टी से रचा और उसके नथनों में जीवन का श्वास फूंक दिया। आदम जीता प्राणी हुआ।"

तौरात उत्पत्ति आयत ८७

कुरान में लिखा है कि खुदा ने आदम को अपने दोनों हाथों से बनाया तथा स्थानान्तर में लिखा है कि उसमें अपनी रूह फूंकदी। खुदा की रूह अथवा ईश्वर के जीव का अभिप्राय एक तो यह है कि ईश्वर ने अपनी ही आत्मा उसमें प्रविष्ट करदी तो आदम को ईश्वर अथवा इसका अवतार मानना होगा।

दूसरे अर्थ यह हो सकते हैं कि ईश्वर उस रूह अर्थात् जीव का स्वामी है। यही अर्थ ही संभव माने जा सकते हैं। विचारणीय बात यह है कि जीव भी ईश्वर की भाँति अनादि है अथवा सादि है ? यदि अनादि नहीं तो ईश्वर ने उसे कहाँ से उत्पन्न किया ? बाईबिल और कुरान में ईश्वर की ओर से जीव को उत्पन्न किये जाने का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। अतः मानना होगा कि जीवात्मा अनादि है। यदि ईसाई यह स्वीकार कर लें तो उनके वैदिक धर्मी बनने में देर न लगे। पुनः वह त्रिनेटी के स्थान पर वैदिक त्रित्ववाद को मान्यता देंगे।

सृष्टि रचना प्रयोजन का वर्णन बाईबिल में अत्यन्त दूषित है। लिखा है कि परमात्मा ने सृष्टि अपने लिये बनाई। यदि ऐसा है तो ईश्वर सृष्टि रचने से पूर्व अधूरा था। किसी प्रकार की न्यूनता अनुभव कर रहा था अन्यथा उसे सृष्टि रचने की क्या आवश्यकता पड़ गई थी, उसने सृष्टि प्रथम बार रची तो उसे यह अनुभव कहाँ से प्राप्त हुआ। और यह इच्छा अकस्मात् क्यों और कैसे उत्पन्न हुई ? यदि अनुभव था तो सृष्टि-रचना कार्य प्रवाह से अनादि मानना होगा, जोकि वैदिक धर्म का सिद्धान्त है।

बाईबिल का ईश्वर अपूर्ण है। कमी से युक्त है, अपनी कमी को पूरा करने के लिये सृष्टि रचना का कार्य करता है। स्वयं अपूर्ण होने से सृष्टि भी अधूरी बना पाता है। विवश होकर क्रोध के आधीन उसके विनाश के हेतु जल प्रलय लाता है। चालीस दिन तक आकाश के द्वार खोल देता है। आकाश के द्वारों से इतनी वृष्टि होती है कि सब भूमि भर जाती है और नूह की नौका पर्वत की चोटी को जा लगती है। जिसमें संसार भरके प्राणियों के जोड़े ईश्वर की आज्ञा से लादे गए थे।

यह कथा भी ब्राह्मण ग्रन्थों की जल प्रलय की आख्यापिका का अपभ्रंश है, वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ अलंकार ऐतिहासिक युग में जनता द्वारा इतिहास का रूप धारण कर गए जो भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न प्रकार से नामान्तर के साथ प्रचलित हुए। इन्हीं से मतमतांतरों की सृष्टि हुई।

आदि में उत्पन्न होने वाली मनुष्य जाति का नाम आदिम बाईबिल में आदम है। और वह एक मनुष्य समझ लिया गया है। जिसे को ईश्वर ने गहरी नींद में सुलाकर उसकी पसलियों में से एक पसली निकालकर उसकी स्त्री की रचना की। जिसका नाम हव्वा रखा गया, इन दोनों की सन्तान संसार के

समस्त मनुष्य मात्र हैं। यह कल्पना भी दुरूह है। क्योंकि पुरुष शरीर से स्त्री का उत्पन्न होना असंभव तथा सृष्टि नियम के विरुद्ध है। धार्मिक जगत् में कोई भी मनुष्य अपने से उत्पन्न हुई स्त्री के साथ विवाह करने और सन्तान उत्पन्न करने का अधिकारी नहीं।

खुदा ने आदम और हव्वा को बुद्धि के वृक्ष के फल खाने का निषेध किया, शैतान के बहकाने से हव्वा ने वह फल खा लिया और अपने पति आदम को भी खिला दिया जिससे दोनों के ज्ञानचक्षु खुल गए। शैतान को ज्ञानदाता और गुरु मानने के स्थान पर उसे अपराधी घोषित करके साँप बनाकर भूमि पर पटक दिया गया। आदम तथा हव्वा को भी शाप दिया गया। आदम ने भूल की अतः वह पापी ठहरा। आदम से जो संतान प्रलय काल तक उत्पन्न होगी वह भी पापी घोषित हुई। इस कारण से खुदा ने अपने ईसामसीह को मनुष्य के द्वारा स्त्री से उत्पन्न न किया कि आदम की भूल के कारण मनुष्य पापी हैं उस के पाप का अंश खुदा के बेटे में न आ जाए। अतः वह कुमारी के पेट से उत्पन्न हुआ। इस कारण से वह निष्पाप माना गया। यह ईसाईयों की युक्ति नितान्त भ्रान्त है क्योंकि बुद्धि के वृक्ष का फल खाने से आदम पापी है तो यह फल उसे हव्वा ने खिलाया। आदम के खाने से पूर्व उस फल को हव्वा ने खाया अतः हव्वा की भूल प्रथम हुई। आदम की भूल का कारण भी हव्वा थी, जिससे ईसाईयों की युक्ति के अनुसार संसार भर की लड़कियाँ हव्वा की पुत्रियाँ होने के कारण पाप की भागिनी माननी होंगी। तब कुमारी से उत्पन्न होने के कारण निष्पाप होने का सिद्धांत अमान्य ठहरेगा।

ईश्वर का पुत्र एक क्यों है ? जब कि सारे संसार के जीव मात्र को ईश्वर की सन्तान मानना अधिक श्रेयस्कर है। स्वयं बाईबिल में संसार के समस्त श्रेष्ठ मनुष्यों को ईश्वर के पुत्र कहा गया है। जबूर में सत्र को ईश्वर पुत्र और मती में मेल कराने वाले मनुष्यों को खुदा के बेटे कहा है। अतः लूका में ईसा-मसीह को खुदा का इकलौता बेटा कहना यह ईसाईयों की नवीन कल्पना है। जो त्रिनेटी अर्थात् तीन खुदा के सिद्धांत को परिपुष्ट करने के लिये घड़ी गई है। आज का शिक्षित संसार इस त्रिनेटी के सिद्धान्त को अमान्य ठहरा रहा है।

ऋषि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश के तेरहवें समुल्लास का ही यह फल समझना चाहिये कि ईसाई संसार के करोड़ों व्यक्ति अब इस त्रिनेटी के सिद्धांत

को इञ्जील में प्रक्षिप्त भाग कहने और मानने लग गए हैं। इसका प्रमाण यह है कि मेरे पास एक पुस्तक है जो वाच टावर बाईबिल ऐंड ट्रैक्ट सोसाएटी आई ऐन सी इन्टर नैशनल बाईबिल स्टूडेंट्स एसोसीएशन बरोकलिन न्यूयार्क यू.एस ए. द्वारा प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की पहिली एडीशन एक करोड़ तीन हजार की संख्या में संसार की तीस भाषाओं में छपी थी। पुनः इसके अन्य कई एडीसन भी प्रकाशित हुए। इस पुस्तक में यूहन्ना इञ्जील की आयत लिखी है कि—

"तीन हैं जो आसमानों में गवाही देते हैं अर्थात् पिता वाणी (पुत्र ईसा-मसीह), और पवित्रात्मा और यह तीनों एक हैं।" यूहन्ना ५।७

इस आयत से ही ईसाई तीन खुदा का सिद्धांत मानते हैं। इस आयत में वाणी का अर्थ खुदा का बेटा ईसामसीह है। मैंने ईसाईयों की एक हिन्दी पुस्तक में "पितापुत्र पवित्रात्मने नम," लिखा हुआ देखा है। जो पुस्तक के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में लिखा गया है, यह तीन एक हैं। ऐसा यूहन्ना की इञ्जील में लिखा है। इस पर ईमान लाना ईसाइयों का धर्म है। किन्तु उक्त अमरीकन पुस्तक में जो करोड़ों की संख्या में प्रकाशित हुई। इस का खंडन करते हुए लिखा है कि—

"पवित्रवाणी (इञ्जील) में प्रक्षेप करने का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है जब कि इस प्रकार का प्रक्षेप करना अति निषिद्ध है। इस प्रमाण की व्याख्या करते हुए यूनानी विद्वान विलसन साहिब ड़ाईगलाट में यूं लिखता है कि:—

यह प्रमाण जो आसमानी गवाहों के सम्बन्ध में दिया हुआ है, वह पन्द्रहवीं शती के पहिले लिखी हुई किसी भी इञ्जील में नहीं है। धार्मिक पुस्तकों के यूनानी लेखकों ने इसका कोई प्रमाण नहीं दिया और न ही पुरातन लातीनी फादरों ने इसका वर्णन किया है। यदि उन्होंने ऐसे लेख लिखे होते तो आवश्यक था कि वह उनके प्रमाण भी उपस्थित करते। अत: यह स्पष्ट है कि यह प्रमाण स्वयंनिर्मित (कपोल कल्पित) है।"

इस कथन की सत्यता इस वास्तविकता से प्रकट है कि रौमन कैथोलिक अनुवादों के अतिरिक्त जो लातीनी वर्शनों से किये गये हैं। यह प्रमाण नए अनुवादों में नहीं पाया जाता।"

खुदा सच्चा ठहरे पृ० ११०

जब तसलीस (त्रिनटी) का सिद्धान्त प्रक्षिप्त है। तो ईसामसीह को खुदा का बेटा मानकर उसे खुदा के आसन पर बिठाकर उससे संसार के जीवों का निर्णय कराना और उन्हें स्वर्ग नरक पहुँचाना भी स्वतः गलत हो गया। उसके ऊपर ईमान लाने के लिए उसे निष्पाप मानने के हेतु कुमारी के पेट से उत्पन्न होने का आधार ही समाप्त हो गया। स्वयं इञ्जील में लिखा है कि—

"जब यसूअ (ईसा) स्वयं उपदेश देने लगा तो लगभग तीस वर्ष का था और यूसुफ का बेटा था और वह ईली का............और वह आदम का और वह खुदा का था।"　　　　लूका ३।२१७।३४

लूका की इञ्जील में ईसा की वंशावली का वर्णन करते हुए उसे यूसुफ का बेटा लिखा हैं। यूहन्ना की इञ्जील में भी स्पष्ट लिखा है कि:—

"फिलुपास ने ·······कहा कि जिसका वर्णन मूसा ने तौरात में और नबियों ने किया है, वह हम को मिल गया। वह यूसुफ का बेटा यसूअ नासिरी है।" यूहन्ना १। ४५

ईसामसीह की माता मरियम ने भी ईसा से कहा कि:—

"ऐ बेटा तूने क्यों हम से ऐसा किया। देख तेरा बाप (पिता) और मैं कुढ़ते हुए तुम्हें ढूंढ़ते थे।" लूका २।४८

माता का कथन सबसे बढ़कर है। संसार के पादरी कुछ कहें। जब तक इञ्जील में माता के शब्द लिखे हैं कि हे बेटा तुम्हें तेरा पिता और मैं ढूढ़ते थे और जब तक तू नहीं मिला हम दुःखी थे। इन स्पष्ट शब्दों के होते ईसा को पिता के बिना कुमारी से उत्पन्न होने का सिद्धान्त मानना केवल हठ मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं। स्वयं ईसामसीह की गवाही भी इञ्जील में मिलती है कि उन्होंने अपने आपको कुमारी का पुत्र न कहकर इब्बे आदम अर्थात् मनुष्य का पुत्र कहा है। देखो रूमियों का आरंभ।

इतने प्रमाण मैंने इसलिए दे दिये हैं जिससे संसार को ज्ञात हो सके कि ईसाईयत के ईसा पर ईमान लाने आदि के सारे हेतु निराधार और कल्पित हैं। इन प्रमाणों के होते ईसाईयत को मत के रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं। ईसामसीह को मुक्तिदाता मानने के सभी कारणों का खंडन स्वयं बाईबल और इञ्जीलों के द्वारा भली प्रकार से हो जाता है। शेष रह

जाता है वैदिक त्रित्ववाद का सिद्धान्त। जो ईश्वर जीव प्रकृति के नित्य होने पर आधारित है

ईश्वर एक है। जीव अनेक हैं। जो कर्म वशात् प्रकृति के बने संसार में गत सृष्टियों और गतजन्मों के शुभाशुभ संस्कारों का फल भोगने के लिए उत्पन्न होते और मुक्ति प्राप्ति तक आवागमन के चक्र में रहते हैं। आरंभ सृष्टि में भी एक मनुष्य आदम और उससे एक स्त्री हव्वा उत्पन्न नहीं हुई थी। जिनकी भूलों के लिए ईश्वर को अपने पुत्र की बलि देनी पड़ी हो किन्तु अनेक स्त्री पुरुष संसार के आरंभ में उत्पन्न हुए थे। जिन का जातिवाची सामूहिक नाम संस्कृत में आदिम था जो भूल से आदम समझ लिया गया।

स्वयं बाईबल में अनेक स्त्री पुरुषों के सर्गारंभ में उत्पन्न होने का वर्णन आता है। जो इस प्रकार से है:—

"आदम की वंशावली यह है कि जब परमेश्वर ने मनुष्य को सृजा तब अपनी समानता में बनाया। नर और नारी करके उसने मनुष्यों को सृजा और उन्हें आशीष दी और उनकी सृष्टि के दिन उनका नाम आदम (आदिम) रखा।" तौरात की प्रथम पुस्तक अध्याय ५।

"और खुदा ने............नर और नारी उनको उत्पन्न किया और खुदा ने उनको बरकत दी और खुदा ने उन्हें कहा कि फलो और बढ़ो और भूमि को आबाद करो।" अध्याय २

यह दोनों प्रमाण तौरात के हैं जिनमें सर्गारंभ के मनुष्यों के अनेक नर-नारियों को उत्पन्न करके उनका सामूहिक नाम आदम रखा गया है। आदम शब्द अरबी और इब्रानी का नहीं है। यह शब्द संस्कृत के आदमी का अपभ्रंश मात्र है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक अब ईसाईयत से पराङ्मुख होकर नास्तिकता के गहरे गर्त में गिर रहे हैं। क्योंकि सत्यसनातन वैदिक धर्म के सिद्धांत उन तक नहीं पहुँचे। जिन तक पहुँचे हैं, वह आर्य बना चुके हैं। यही ऋषि का ऋषित्व है और सत्यार्थ प्रकाश के १३ वें समुल्लास का चमत्कार है कि आज ईसाई संसार ईसा के चमत्कारों का खंडन कर रहा है।

ऋषि ने मती की इञ्जील के अध्याय १५ के चमत्कार का खंडन किया है कि रोटियां सात थीं और खाने वाले व्यक्ति चार सहस्र थे। सब तृप्त

हो गये और झूठन के सात टोकरे भर गए। महर्षि जी ने लिखा है कि यदि ईसा का यह चमत्कार सत्य माना जाए तो जब एक अवसर पर ईसा को भूख लगी और गूलर के वृक्ष से फल माँगा तो उससे फल क्यों न मिला और ईसामसीह की भूख की तृप्ति क्यों न हुई ?

स्वयं ईसा ने चमत्कार दिखाने की असमर्थता प्रकट की है। मरकस में लिखा है कि:—

"पुन: फरीसी निकलकर उससे शास्त्रार्थ करने लगे और उसे आजमाने के लिए उससे कोई आसमानी चमत्कार माँगा। उसने अपनी आत्मा में ठंडा साँस खींचकर कहा कि इस युग के लोग क्यों चमत्कार माँगते हैं ? मैं तुम से सत्य कहता हूँ कि इस युग के लोगों को कोई चमत्कार न दिया जाएगा और वह उनको छोड़कर पुन: किश्ती में बैठा और पार चला गया।" पृ० ९३६

जब ईसामसीह ने उस युग के लोगों को चमत्कार दिखाने से इनकार किया और ठंडी साँस ली और कहा कि मैं तुम से सत्य कहता हूँ कि इस युग के लोगों को चमत्कार न दिखाया जाएगा। तो इञ्जील में जितने चमत्कार लिखे हैं सब प्रक्षिप्त हैं। जो ईसाईयों ने मिला दिये।

ईसाईयत के प्रचार का सारा बल अपठित जनों में उसके चमत्कारों पर आश्रित है। ईसा के इनकार पर भी उनके चमत्कारों का वर्णन उनके साथ बहुत बड़ा अन्याय है। जिसे आज का संसार सहन करने को उद्यत नहीं।

सत्य ज्ञान का सूर्य उगा है, उदय हुआ है स्वर्ण-विहान !
रह न सकेगा आर्य देश में, ईसाई मत का अज्ञान !

ईसाई-मत की वास्तविकता

श्री जगत्कुमार शास्त्री

ईसा का जीवन-चरित्र जो चार इंजीलों में अंकित है, वह उन भविष्य-वाणियों को आधार बनाकर चलता है, जो कि यहूदियों के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में पाई जाती हैं। उन भविष्यवाणियों के साथ ही आकाश-वाणियों और स्वप्नों के आधार भी विषय प्रतिपादन और घटना-विस्तार के लिए अपनाये गये हैं। मूसाई, ईसाई और मुहमदी मतों में और इनकी प्राचीन काल से लेकर आज तक की सभी शाखाओं, प्रशाखाओं, भविष्य-वाणियों, आकाश-वाणियों और स्वप्नों के आधार पर प्राप्त होने वाले समाचारों की भरमार है। भविष्य-वाणियों और आकाश-वाणियों एवं स्वप्नों और चमत्कारों को आधार बनाकर ही भारत के पौराणिक-साहित्य की रचना हुई थी। इस पौराणिक साहित्य में रामायण और महाभारत जैसे बड़े ग्रन्थों और बौद्ध एवं जैन-साहित्य का भी समावेश होता है। यह एक ऐसी समानता है, जोकि मध्य-काल की साहित्यिक-प्रगतियों, रचना-प्रणालियों और भोली-भाली जनता को प्रभावित करने की सरलतम पद्धतियों के ताने-बाने को सुस्पष्ट करती है। आज तो भविष्य-वाणियों आदि की बातें अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होती हैं, परन्तु एक दीर्घ-काल तक भविष्यवाणियों आदि के आधार पर ही नये-नये ग्रन्थ बनते रहे, पन्थ चलते रहे, आन्दोलन उठते रहे हैं और जन-मानस आन्दोलित होते रहे हैं।

जिसको आज कल इस्राईल कहते हैं, उसी देश में ईसा ने अपना धर्म प्रचार और सुधार का आन्दोलन शुरू किया था। ईसा का जन्म एक यहूदी परिवार में हुआ था। यहूदियों में ही उसने काम किया, उसके शिष्य और उत्तराधिकारी भी यहूदी थे। इसके परिणामस्वरूप प्राचीन यहूदी-मत ने, जोकि रूढ़िवाद का पुराना खण्डहर-मात्र रह गया था, ईसा के आन्दोलन से नया जीवन प्राप्त किया। ईसा ने यहूदी मत की कट्टरता को कम किया उसके सिद्धान्तों में लचक पैदा की, संन्यासियों और गृहस्थियों के पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित किये, मानवी दुर्बलताओं के प्रति, मानव-जीवन को अधम वृत्तियों के प्रति भी सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाया। ऐसा करने से ईसा को अपने अनुयायी प्राप्त करने में भी आसानी हुई।

ईसा ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, तथापि शिष्य-मण्डली ने उनके मौखिक-उपदेशों और उनके जीवन की घटनाओं को लिखा, उनमें प्राचीन यहूदी-मत के ग्रन्थों की पुट देकर नये ग्रन्थ रचे, पुराने ग्रन्थों के सम्बन्ध और तारतम्य स्थापित किये और प्राचीन आचार-पद्धतियों तथा उपासना-पद्धतियों में कुछ सुधार एवं फेर-फार करके अपने नये मत की प्रवर्त्तना की। ईसा के नाम पर इस नये मत का नाम "ईसाई-मत" प्रसिद्ध हो गया। आरम्भ में तो इस नये मत के नये नाम "ईसाई-मत" का प्रचार विरोधियों ने ही शुरू किया था और इसमें उपालम्भ या व्यंग्य का तीखा भाव भी मौजूद था; परन्तु ईसा के जोशीले अनुयाइयों ने इस नये नाम को सहर्ष अपना लिया। एक नये नाम की आवश्यकता भी उनको थी ही। ऐसा होने पर नये नामके व्यंग्य की चुभन भी समाप्त हो गई।

ईसा का एक नाम (Jesus) 'जीसस' है। इस नाम के आधार पर ईसाई-मत को त्रिसुइट भी कहते हैं। एक ईसाई-सम्प्रदाय भी इस नाम का है। जीसस (jesus) शब्द का अर्थ परित्राता है। ईसा को 'क्राईस्ट' भी कहते हैं। (Christ) शब्द के दो अर्थ हैं। एक जिसको क्रोस पर चढ़ाया गया। दूसरे कुमारी का पुत्र (The son of virgin) ईसा दोनों ही अर्थों में 'क्राइस्ट' है। इसी नाम के आधार पर ईसाई-मत को (Chrisianity) क्रिश्चैंयिटी कहते हैं।

ईसा के जीवन-काल में ईसा के चेलों का व्यवहार कुछ अधिक उत्साह पूर्ण या उत्कर्षपूर्ण नहीं था। परन्तु ईसा की शानदार मौत ने जोकि निःसन्देह एक शहीद की मौत थी। उनकी आँखें खोल दीं और उनको नये उत्साह से अनुप्राणित कर दिया। सूली पर चढ़कर ईसा ने अमरता प्राप्त करली। मृत्यु-दण्ड देने के लिए विरोधियों की ओर से जो आरोप लगाये थे, उनका स्पष्ट उल्लेख इंजीलों में नहीं है। शायद राजनीतिक कारणों से ही उनका उल्लेख नहीं किया गया। अन्य ग्रन्थों में ईसा के मुकदमे का पूरा हाल मिलता है। ईसा पर निम्नलिखित आरोप लगाये गये थे:—

५—ईसा लोगों को सत्पथ से हटाता है।

२—वह राज-विद्रोही है।

३—वह आईन (विधान) का विरोधी है।

४—वह मिथ्यारीति से अपने को ईश्वर कहता है।

४—वह यहूदी-मन्दिर में घुसा। उसके पीछे एक समुदाय हाथों में खजूर की लाठियाँ लिए हुए था।

ये आरोप ईसा के मृत्यु-दण्ड के उस आज्ञा-पत्र में अंकित हैं। जो सम्राट् टिपरियस कैसर के १७ वें राज्याब्द में २७ वीं मार्च को जेरूसलम के पवित्र नगर में घोषित किया गया था। इस आज्ञा पत्र में यह भी लिखा गया था। —

"प्रत्येक मनुष्य को वह सम्पन्न हो या दरिद्र, यह भी आज्ञा दी जाती है कि वह ईसा के मृत्यु-दण्ड का विरोध न करे।"

(ईसा का जीवन वृत्तान्त एक दृष्ट-साक्षी द्वारा)

ईसा की निर्दयतापूर्ण मौत ने वह काम कर दिखाया जो शायद जीवित ईसा न कर सकता। जनता में ईसा के उपदेशों के प्रति भारी अनुकूलता जाग उठी।

सन्त आँगस्टाइन ने लिखा है—

"जो अब ईसाई-धर्म कहा जाता है, वह प्राचीन लोगों में भी था, और मानव-जाति के आरम्भ काल से लेकर ईसा के शरीर धारण तक बराबर उपस्थित रहा। ईसा के समय से उस पूर्ववर्ती धर्म का नाम ईसाइयत पड़ा।"

सैण्ट ऑगस्टाइन (August. Rep. 1. 13.)

ईसाइयत के सभी सिद्धान्त, जैसाकि ईसाई विद्वान भी स्वीकार करते हैं।

यहूदी-मत से लिये गये हैं। यहूदियों के समान ही ईसाई भी प्राचीन धर्म-पुस्तक (Old Testament) को अपने पवित्र धर्म-पुस्तक मानते हैं। एक शब्द में ईसाइयों की धर्म पुस्तक को "पवित्र बाईबिल" (Holy Bible) कहा जाता है। बाईबिल के मुख्यत: दो भाग हैं। (१) प्राचीन धर्म-पुस्तक (Old Testament) और (२) नई धर्म-पुस्तक (New Testament)। ये दोनों भाग कई-कई पुस्तकों के संग्रह हैं। प्राचीन धर्म-पुस्तक में ईसा से पूर्ववर्ती यहूदी मत की पुस्तकों का संग्रह है। इसमें उन्तालीस पुस्तकें संगृहीत हैं। नई धर्म-पुस्तक में सत्ताइस पुस्तकों का संग्रह है, जिनमें से पहिली चार पुस्तकें इंजीलें (Gospels) कहलाती हैं। इंजीलों में ईसा का जीवन-वृत्त और उसके उपदेश संक्षिप्त रूप में संगृहीत हैं।

ईसा यहूदी था। उसने यहूदी-मत को मिटाने का नहीं, अपितु उसके सुधार और उत्थान का ही प्रयत्न किया था, जैसा कि लिखा है—

"यह न समझो कि मैं व्यवस्था या नबियों के लेखों को लोप करने आया हूँ।" (मत्ती ५ १७, १८)

ईसा का कोई नया मत चलाने का विचार न था। तो क्या यहूदी-मत और ईसाई-मत में कोई भेद नहीं? जहाँ तक विचार न था। जहाँ तक आत्मिक सिद्धान्तों और गन्तव्यों का सम्बन्ध है, ईसाई-मत और यहूदी-मत में कोई विशेष भेद नहीं है। हाँ, ईसाई-मत के सदाचार-विषयक अधिक सरल और स्पष्ट हैं।

कुछ विद्वानों का कथन है कि यहूदी तो अपने मत को बहुत अधिक प्राचीन कहते हैं, जैसा कि सभी पन्थाई लोग का कथन होता है। अन्वेषकों ने यहूदी-मत के उत्कर्ष का समय ईसा से ४५० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। ऐसा उल्लेख है कि "हरन" नामक नगर में बैठकर यहूदी-मत के प्रवर्तक ने अपनी धार्मिक विवेचना की थी। जर्मनी डाक्टर स्नी० स्पीगल, जिनका दूसरा नाम आर्यनम चीगा भी था, यह मत प्रकाशित किया था कि पासी-मत के संस्थापक जरस्थश्त्रु और यहूदी-मत के संस्थापक अब्राहम का समय एक ही है और वे दोनों एक ही देश के निवासी थे। दोनों के सिद्धान्तों, और देवताओं आदि की तुलना करके इस स्थापना के पक्ष में बहुत से प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

कई प्रमुख विद्वानों का मत है कि ईसा ने सदाचार विषयक शिक्षा बौद्ध मत से ग्रहण की थी। स्वर्गीय श्री रमेशचन्द्र दत्त महोदय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Civilisation in ancient India vol. 11. C. 328 में लिखा है—"बौद्ध-मत के चरित्र सम्बन्धी सिद्धान्त और उसकी शिक्षा में ईसाई-मत के सिद्धान्तों और उसकी शिक्षाओं से इतने अधिक मिलते-जुलते हैं कि बहुत दिनों से इन दोनों मतों के मध्य में कोई सम्बन्ध होने का सन्देह किया जा रहा है।"

यूनान में बौद्ध-मत की शिक्षा ईसा के जन्म से बहुत पूर्व ही पहुँच चुकी थी सम्राट् अशोक के गिरनार के शिलालेख से ज्ञात होता है कि बौद्ध-प्रचारक "सीरिया" देश में प्रचारार्थ भेजे गये थे। प्रसिद्ध रोमन ऐतिहासिक Pliny the Naturalist पैलेस्टाइन में ईसा से एक शताब्दी पूर्व "ऐसेनैस" (Essenes) नामक सम्प्रदाय का उल्लेख करता है। खोज से ज्ञात हुआ है कि यह समुदाय एक बौद्ध-शाखा स्वरूप ही था।

[देखिये Historia Naturalis, Vol V. P. 17, Quoted in R. L. C. Dutts ancient India Vol. II P. II P. 337]

श्री रमेशचन्द्र दत्त का यह कथन है कि कुछ नरम ईसाई इस बात को स्वीकार करते हैं कि सीरिया बौद्ध-मत का सहायक और अगवा बना, जिसका प्रचार ईसा ने दो शताब्दियों के पश्चात् किया। [Ancient India Vol II. 633]

ईसा के उपदेशों, दृष्टान्तों और प्रचारशैली की बौद्ध-मत के उपदेशों, दृष्टान्तों और उसकी प्रचार-शैली से विस्तार पूर्वक तुलना करके श्री दत्त महोदय ने दोनों मतों की समानता दिखाई है।

खुदा और शैतान का सिद्धान्त यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों में एक से ही रूप में माना जाता है। यहूदियों और ईसाइयों तथा मुसलमानों के महापुरुष अर्थात् पैगम्बर आदि भी सब पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रायः समान ही हैं। जब मुहम्मद साहेब ने अपने मत का प्रचार किया तब उन्होंने यहूदियों और ईसाइयों के सभी पैगम्बरों को भी मान्य ठहराया था। उनके आदेशानुसार मुसलमान ईसा को भी अपना महापुरुष मानते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्वर्ग और नरक,

पैगम्बर पर विश्वास, फरिश्ते, कर्म-फल, पैगम्बर की शिफारिश स्वर्ग की प्राप्ति, कियामत का होना, इन्साफ का दिन, मुरदों का कबरों से जी उठना, कयामत से पहिले एक विशेष नबी के आने की भविष्य वाणी पर विश्वास, ये सब बातें यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों में लगभग एक से ही रूप में मानी जाती हैं।

थोड़े से भेद की बातें ये हैं कि ईसाइयों का खुदा चौथे आसमान पर रहता है, मुसलमानों का खुदा सातवें आसमान पर। इन्साफ के दिन यहूदियों की सिफारिश दाऊद, लूत, इब्राहीम, मूसा आदि करेंगे, इसाइयों की ईसा और मुसलमानों की। मुहम्मदा यहूदी तौरेत और जबूर को धर्म ग्रंथ स्वीकारते हैं, जो कि प्राचीन धर्म पुस्तक में शामिल हैं। ईसाइयों ने नई धर्म पुस्तक की वृद्धि की है। मुसलमानों के लिये पुराने धर्म-ग्रंथ त्याज्य हैं, कुरान मान्य है। ईसाई पिता, पुत्र और पविश्रात्मा तीन खुदाओं का विशेष सिद्धान्त मानते हैं। यह त्रैतवाद का न समझा हुआ-सा रूप है। उपासना पद्धति के भेद साधारण हैं।

विद्वानों ने संसार में प्रचलित मत-मतान्तरों को समेटिक और हेमेटिक दो प्रधान वर्गों में बाँटा है। कहते हैं कि हजरत इब्राहीम के दो पुत्र थे, साम और हाम! समेटिक मत साम के अनुयाइयों के हैं और हेमेटिक हाम के पक्षपातियों के। यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों की गणना सेमेटिक मतों में की जाती है।

प्राचीन धर्म पुस्तक में जिन पैगम्बरों और राजाओं आदि के वृतान्त हैं, उनका उल्लेख यहाँ करना कठिन है। यदि परपक्ष विचारों के लोग उसे पढ़ना चाहें तो पढ़लें; परन्तु स्मरण रहे प्राचीन-धर्म पुस्तक में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनके पाठ से स्त्रियों और बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव हुए बिना न रहेगा। नग्न-काम-क्रीड़ाओं की कहानियाँ, सृष्टि-क्रम और विद्या एवं विज्ञान से विपरीत बातें, अन्धविश्वास पूर्ण किस्से, साम्प्रदायिक संकीर्णताओं और राग-द्वेष से पूर्ण नियम और, रूखे-सूखे रूढ़ीवादी कर्म-काण्ड के ढकोसले पढ़-पढ़ कर किसी का क्या भला होगा?

ईसा के बलिदान के पश्चात् जनता में जो उत्साह जागा, उसके परिणाम-स्वरूप ईसाई मत ने बहुत उन्नति की। ईसाई प्रचारकों पर अत्याचार होते रहे बहुत से प्रचारक निर्दयतापूर्वक बर्बरों के हाथों मारे गये; परन्तु ईसाई

मत का प्रचार अधिकाधिक बढ़ता गया। समय आया, जब ईसाई मत के बड़े-बड़े मठ स्थापित हुए। सबसे बड़े मठाधीश को "पोप" की पदवी देकर ईश्वर और ईसा का उत्तराधिकारी, तारण-तार, राजाओं का भी राजा और धरती पर ईश्वर का नायब ठहराया गया।

राजनीति के सब दाव-पेंच और सन्धि विग्रह की सम्पूर्ण शक्तियाँ पोप की मुट्ठी में आ गईं। ऐश्वर्य बढ़ा, अधिकार बढ़ा, सुख-सुविधायें बढ़ीं तो पापाचार और प्रमाद भी बढ़ा। धर्म की आड़ में भारी अनाचार फैल गया। उस सम्पूर्ण अनर्थ के विरोध में समय-समय पर कई आन्दोलन उठे और वे ईसाई मत के ही अन्तर्गत नये-नये सम्प्रदायों का रूप धारण करते चले गये; परन्तु उस पाखण्ड का भाण्ड-फोड़ करने का श्रेय जिस महात्मा ने प्राप्त किया, उसका नाम "मार्टिन लूथर" है। उसका आन्दोलन ईसाई-मत के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। लूथर के आन्दोलन के परिणामस्वरूप ईसाइयों के दो मुख्य भेद हो गये हैं।

१—सनातनी-ईसाई, जो कि रोमन कैथोलिक कहलाते हैं, मूर्त्ति-पूजा करते हैं, प्राचीन धर्म-पुस्तक और नई धर्म-पुस्तक दोनों को ही प्रमाण मानते हैं ये लोग बहुत कट्टर, रूढ़ीवादी और प्रतिक्रियागामी होते हैं। इनके प्रधान आचार्य को आजकल भी "पोप" कहा जाता है। जो कि रोम में रहता है। हिन्दुओं के शंकराचार्य के समान ही पोप की गद्दी और परम्परा चली आ रही है। एक "पोप" जब तक जीवित रहता है, वह दुनिया में ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। जब वह मर जाता है, तब नया पोप ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। इस प्रकार यह सिलसिला आगे चलता रहता है।

मार्टिन लूथर के आन्दोलन से पहिले पोप का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। पोप को ईसाई-राज्यों का सर्वोपरि शासक माना जाता था। पोप ने विभिन्न स्थानों में अपने एजेंट रख छोड़े थे, और वे सुसंगठित रूप में पापों के "क्षमा-पत्रों" तथा "स्वर्ग में स्थान आदि की सुरक्षा पत्रों" का व्यापार बड़े ठाठ से करते थे, जैसे कि आजकल जीवन बीमा कम्पनियों के कारोबार होते हैं। लोग बड़ी-बड़ी धन-राशियों के बदले में स्वर्ग के सामान अपने लिए सुरक्षित करवा कर लुटते थे और भीषण-तम अपराधों के क्षमा-पत्र पोप या उसके एजेण्टों को धन देकर प्राप्त कर लेते थे और फिर पाप करते थे।

२—ईसाइयों का दूसरा वर्ग महात्मा मार्टिन लूथर का अनुयायी है। इस वर्ग को "प्रोटेस्टेण्ट" कहते हैं। प्रोटेस्टेण्ट कहने का कारण यह है कि इन लोगों ने ईसाई मत के पुराने और रूढ़ीवादी मत का प्रतिरोध (Protest) किया था। कुछ लोग इस वर्ग को ताने के रूप में "लूथरन" भी कहते हैं। क्योंकि इस सुधारवादी वर्ग का प्रवर्त्तक "लूथर" ही है। ये लोग बुद्धिवादी और आधुनिकता प्रेमी होते हैं। ये मूर्ति पूजा को त्याज्य मानते हैं। और नई धर्म पुस्तक को ही अधिक महत्त्व देते हैं। प्राचीन धर्म-पुस्तक को ये अधिक महत्त्व नहीं देते।

यूरोप के इतिहास में एक लम्बा समय "अन्धकार-युग" (Dark Age) के नाम से प्रसिद्ध है। यह समय ईसा की दसवीं शताब्दी से सतरहवीं शताब्दी तक समझा जाता है। इस काल में तथाकथित धार्मिकों के हाथों भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं, भू-गोल वेत्ताओं, ख-गोल (ज्योतिष) वेत्ताओं और आविष्कार पर जो-जो भीषणतम अत्याचार किये थे। और धार्मिक मतभेद के आधार पर रोमन कैथोलिकों ने प्रोटेस्टेण्टों पर, और प्रोटेस्टेण्टों ने रोमन कैथोलिकों पर जो-जो जुल्म ढाये थे, उनका उदाहरण संसार के किसी भी इतिहास में नहीं है धर्म के नाम पर स्वार्थ पूर्ति और राज्य-सत्ता को हस्तगत करने के लिए होने वाले इन दीर्घ-कालव्यापी झगड़ों के कारण यूरोपीय देशों में धर्म का विद्रोह होने लगा है और धर्म को अफीम बताकर त्याज्य कहा जाता है।

सच हैं—

खुदा के बन्दों को देखकर ही,
　　　　खुदा से मुन्किर हुई है दुनिया।
कि ऐसे बन्दे हैं जिस खुदाके,
　　　　वह कोई अच्छा खुदा नहीं है॥

श्री चन्द्रराज भण्डारी ने अपने सुप्रसिद्ध और विशालकाय ग्रन्थ "समाज-विज्ञान" में इस विषय का कुछ विवरण दिया है—

"इन्क्वीजीशन एक प्रकार की धार्मिक अदालत थी। इसमें न्याय-आसन पर पादरी लोग काम करते थे। इस अदालत के निर्णय पर किसी प्रकार की अपील न थी। जो लोग रोमन कैथोलिक धर्म को नहीं मानते थे, उसमें

अविश्वास करते थे, या उसके विधानों में किसी प्रकार की शंका करते थे, या पोप की आज्ञाओं का उल्लंघन करते थे, वे अपराधी करार दिये जाकर इस अदालत में विचार के लिए पेश किये जाते थे। पादरी लोग उनके लिये दण्ड की व्यवस्था देते थे। इस अदालत के विधान के अनुसार थोड़ा-सा सन्देह होते ही मनुष्य को गिरफ्तार कर लिया जाता था, और जब तक वह अपराध स्वीकार न करे, तब तक नाना प्रकार की यन्त्रणाओं के द्वारा सताया जाता था।"

"इस प्रकार यन्त्रणायें पहुँचाने के लिए कई यन्त्र भी तैयार किये गये थे। इन में "रैक" "कालर आफ टारचर" 'स्कैवेंजर्स राटर" नामक यन्त्र बहुत प्रसिद्ध थे। इन यन्त्रों में अपराधी को चाहे वह नवयुवक, वृद्ध या कोमलांगी युवती ही क्यों न हो—नंगा करके फँसा दिया जाता था। और फिर इन्हीं के द्वारा उसे भीषण यन्त्रणा दी जाती थी। "रैक" अभियुक्तों के अंगों को खींचने का एक यन्त्र था। इस यन्त्र द्वारा अभियुक्त की उंगलियाँ' हाथ, पैर तथा अन्य अंग खींचे जाते थे। कभी इस खिचाव में आकर ये अंग उखड़ भी जाते थे। इससे मनुष्य को भीषण यन्त्रणा होती थी। "कालर आफ टारचर" एक दूसरा भीषण यन्त्र था। इसमें एक कालर रहता था, जिसमें सैकड़ों सुइयां लगी रहती थीं यह कालर अविश्वासियों के गले में लगाया जाता था, जिसमें वे लोग अपनी गर्दन इधर-उधर नहीं हिला सकते थे। इधर-उधर हिलाते ही वे सुइयां उसको चुभने लगती थीं। अन्त में कुछ समय बाद उसकी गर्दन सूज जाती थी और वह मौत का मेहमान हो जाता था।".

"इसी प्रकार "स्कैवेंजर्स राटर" एक कैंची की तरह होता था। इसमें अपराधी के हाथ, पैर और सिर का कसने के अलग-अलग खांचे बने होते थे। इस यन्त्र में अपराधी के हाथ, पांव और सिर फँसा कर कस दिये जाते थे, जिससे वह जैसे का तैसा जड़-वस्तु की तरह कर जाता था। अन्त में उसके हाथ-पैर जीवन-शक्ति-हीन हो जाते थे। कई लोग तो इसी में बड़े कष्ट के साथ अपने जीवन का अन्त कर देते थे।"

"इन भीषण यन्त्रणाओं से दु:खी होकर अपराधी और बहुत-से निरपराधी भी अपराधों को स्वीकार कर लेते थे। बस, स्वीकार करते ही वे लोग

"स्टेक" से बान्ध कर जीते-ही जला दिये जाते थे । यहां पर यह बतला देना आवश्यक है कि अपराध को सिद्ध करने के लिये केवल दो गवाहों का बयान काफी समझा जाता था ।"

"इन्क्वीजीशन से सजा पाए हुए मनुष्य एक-एक करके नहीं जलाये जाते थे, बल्कि बहुत से इकट्ठे हो जाने पर एक साथ जला दिये जाते थे । जो दिन इनको जलाने के लिए निश्चित होता था, उस दिन सब लोग त्योहार मनाते थे । स्वयं बादशाह भी ठाठ-बाट के साथ इस अवसर पर उपस्थित होते थे । सब कैदियों के बदन पर एक पीले रंग का अंगरखा रहता था । इस वस्त्र पर भूत-प्रेत आदि के वीभत्स चित्र बने हुए रहते थे । उनके सिर पर त्रिकोणाकार बहुत ऊंची टोटी लगी हुई रहती थी । नियत स्थान पर पहुँच जाने पर सब अपराधियों की जिह्वायें कस कर बाँध दी जाती थीं । इसके पश्चात् नाना व्यंजनों से भरे हुए थाल उनके सामने लाये जाते थे । और उन्हें व्यंग्य पूर्वक जठराग्नि शान्त करने के लिए कहा जाता था । इसके पश्चात् प्रधान पादरी का भाषण होता था । जिसमें वह इन कैदियों को जी भर कर गालियाँ देता था । अनन्तर वे सब एक चबूतरे पर चढ़ाये जाते थे, जहाँ जल्लाद उन्हें धधकती हुई अग्नि में डालने के लिये प्रस्तुत रहते थे । जो अपराधी अन्तिम समय तक अपने विचारों पर दृढ़ रहते थे, वे तो जिन्दा ही आग में फेंक दिये जाते थे । मगर जो इन भीषण यन्त्रणाओं से घबरा कर अपने दोष को स्वीकार कर लेते थे, उन्हें पहिले गला दबाकर मार डाला जाता था, और तब उनका शव आग में फेंक दिया जाता था ।"

"जो लोग "बाइबिल" को किसी भी भाषा में पढ़ लेते, जो लोग पोप की आज्ञाओं में किसी प्रकार भी तर्क-वितर्क कर लेते थे, अथवा जो गिरजे में न जाकर घर पर ही ईश्वर की आराधना कर लेते थे, वे सब अभागे इसी प्रकार कत्ल किए जाते थे । एक मनुष्य ने कुछ धार्मिक भजनों की नकल करली थी । इसी अपराध में उस का सिर तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया ।"

"ये सब अत्याचार पवित्र ईसाई-धर्म के नाम पर हुए बताए जाते हैं । अपने पहले ही वर्ष में इस अदालत ने केवल एक प्रान्त में दो हजार यहूदियों को "स्टेक" से बाँध कर जला दिया । इसके अतिरिक्त इसके भय से भयभीत

होकर हजारों यहूदियों ने स्वयं ही आत्म-घात कर लिया। लौण्डी का कथन है कि अकेले टोर्की-तेडा नामक राजा ने अपने राजत्व-काल के अठारह वर्षों में एक लाख चौदह हजार चार सौ एक मनुष्यों का सर्वनाश किया। इसके अतिरिक्त चार्लस पंचम के राजत्व-काल में एक लाख से अधिक अविश्वासियों को प्राण-दण्ड दिया गया। मतलब यह है कि इस 'इन्क्वीजीशन' से तथा ईसाई सम्प्रदाय के पारस्परिक कलह के द्वारा एक करोड़ से अधिक मनुष्यों की मृत्यु हुई। इसके अतिरिक्त इस बलि-वेदी पर अप्रत्यक्ष रूप से कितनी जानें दी गई होंगी, इसका कौन अन्दाज कर सकता है?"

[समाज-विज्ञान, पृष्ठ २७२ से २७३]

लन्दन का सर्व प्रथम आर्च-बिशप क्रेनमर, जिसने पोप से सम्बन्ध विच्छेद करने पर हेनरी आठवें की ओर से रानी मेरी को दिये गये तलाक के अनुकूल स्वीकृति देकर हैनरी के लिये नई शादी का मार्ग खोल दिया था, और उसके दो साथी पादरी "रैंडले" और "लेटीमर" तथा और भी बहुत से प्राटेस्टेण्ट ईसाई, रोमन कैथोलिकों के हाथों जीवित ही जलाये गये थे।

एक अभागा लेखक

पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि संसार में जिस सर्व प्रथम पुस्तक के मुद्रण और प्रकाशन को निषिद्ध घोषित किया गया था, जिस पुस्तक के सम्पूर्ण मुद्रित संस्करण को जला कर नष्ट किया गया था। और जिसके लेखक को भीषणतम शारीरिक यातनायें देकर, अन्त में दण्ड-स्वरूप जीवित जलाकर समाप्त कर दिया गया था वह ईसाईयों के धर्म-ग्रन्थ बाईबिल का वह भाग है, जो कि नई धर्म-पुस्तक कहलाता है। वह पुस्तक नई धर्म-पुस्तक का अंग्रेजी-भाषा में अनुवाद था। यह घटना इग्लैंड में हैनरी आठवें के राज्य-काल में घटित हुई थी।

सन् १५२५ ई० में एक लेखक ने बड़े परिश्रम से नई धर्म-पुस्तक का अंग्रेजी भाषानुवाद तैयार किया और उस को पुस्तक रूप में मुद्रित करवाया। पुस्तक तैयार होने पर प्रकाशन के साथ ही उसकी एक प्रति कैण्टरबरी के धर्माचार्य [डीन] की सेवा में प्रेषित की गई। उस महान लेखक का नाम था, विलियम टाण्डले।

उस समय के धार्मिक नियमों के अनुसार जन-साधारण को धार्मिक ग्रन्थों के मुद्रण, प्रकाशन और विक्रय का अधिकार न था। आज तो विलियम टाण्डले का वह ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा का सबसे अधिक प्रचारित धर्म ग्रन्थ है; परन्तु उसके प्रथम मुद्रण के अवसर पर ईसाई धर्म-संघ ने उसका प्रबल विरोध किया था। राज्य की ओर से विलियम टाण्डले को गिरफ्तार करने के आदेश जारी किये गए थे और वह प्रथम संस्करण जप्त किया गया था।

इससे पूर्व कि विलियम टाण्डले पकड़ा जाता, वह भाग कर बेलजियम चला गया। बेलजियम में भी कानून के लम्बे हाथों ने उसे जा पकड़ा। धर्म की अदालत ने विलियम टाण्डले को मौत की सजा दी। अपनी प्रकाशित की हुई पुस्तकों के ढेर पर उस अभागे लेखक को बैठाया गया और जला दिया गया।

गेलेलियो गणित का एक महान प्रोफेसर था। उसने दूरवीक्षण-यन्त्र बनाया। कई नक्षत्रों का पता लगाया, बहुत से आविष्कार किये। उसको जादूगर बताकर तथाकथित धार्मिकों ने जेल में सड़ाया। वृद्धावस्था में गेलेलियो को भारी कष्ट उठाने पड़े।

ज्यार्डेनो ग्रुनो भूगोल विद्या का एक महान् पण्डित था। उसने वे सब युक्तियां प्रस्तुत कीं जिन से जमीन का नारंगी के समान गोल होना सिद्ध होता है। उस समय तो ईसाई-मत के अनुसार जमीन को चटाई की तरह चपटी ही माना जाता था। ज्यार्डेनो पकड़ा गया और जीते जी आग में झोंक दिया गया।

हाई पेशिया एक देवी थी, बहुत बिदुषी। वह बाजारों में सदाचार के उपदेश देती थी। बाईबिल के विरोधी में प्रचार करने का आरोप लगाकर पोप पाल के नौकर उसे पकड़कर ले गये। वह नंगी की गई। उसके शरीर में सूइयां चुभोई गईं। फिर उसे भी आग में झोंक कर मारा गया।

देवी जोन आफ आर्क एक देश-भक्त वीर महिला थी। उसको जादूगरनी बताकर पकड़ा गया। भारी कष्ट दिये गये। फिर उसे भी अग्नि-कुण्ड में झोंक दिया गया। फ्रांस, इटली, जर्मनी, इंग्लैण्ड सभी देशों में उन दिनों ये पाप-कर्म होते रहे।

ईश्वर न करे कि भारत में ईसाई-मत फैले और यहां पर भी अन्धकार-युग का पुनरावर्तन हो। भारत में भी रोमन कैथोलिक अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने

में लगे हुए हैं। विदेशों से रुपया आ रहा है और विदेशी प्रचारकों की बड़ी-बड़ी सेनायें भारत को ईसाई-मत में रंगने का सिर तोड़ प्रयत्न कर रही हैं। भारत में ईसाई-मत के आगमन और प्रसार का वृत्तान्त संक्षेप में देखें।

ईसाइयों ने १५ वीं शताब्दी में व्यापार के लिये भारत में आना आरम्भ किया था। पहिले पहल पुर्तगाल के निवासी यहां आये। वे कट्टर ईसाई-मत के प्रचार में जुट गये। उनकी प्रति स्पर्धा में यूरोप के अन्य देशों के वासियों ने भी यहां आना शुरू किया। एक सौ वर्ष पीछे सामुद्रिक व्यापार की सारी शक्ति डचों तथा अन्य विदेशियों के हाथ में आ गई। पीछे चल कर अंग्रेजों और फ्रेंचों ने अपनी चतुराई से अन्य सभी को यहां से निकाल दिया और भारत का राज-तन्त्र भी अपने आधीन कर लिया।

पुर्तगाल वालों ने भारत में ईसाई-मत के प्रचारार्थ गोआ, मालावार और बम्बई के इलाकों में भारी जोर-जुल्म भी किया था। परन्तु इसके बाद के अधिकांश प्रचार में शिक्षा, सेवा, प्रलोभन, शादी, कर्ज, चिकित्सा और कूटनीति के साधन अपनाये गये। हस्पतालों, अनाथालयों, स्कूलों, अबला-आश्रमों और सहकारी बेंकों एवं छापेखानों की जोरदार व्यवस्थायें की गई। ये ही साधन आज भी भारत को ईसाई बनाने के लिए काम में लाए जा रहे हैं। भारत को ईसाई बनाने का काम अंग्रेजों के लिए राज्य में वायसराय के आधीन था। सन् १९३५ ई० के भारतीय नव-विधान में भी ईसाई-मत-प्रचार का विभाग वायसराये के आधीन रख गया था। व्यवस्था परिषदों तथा प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों का इस विषय में कुछ भी दखल न था। अंग्रेजी राज्य के अन्त के साथ ही भारत में से विदेशी ईसाई-मतप्रचारकों के कदम उखड़ गये थे और उन्होंने अपनी जायदादें बेच कर भागना शुरू कर दिया था; परन्तु भारत के तथा कथित सैक्यूलर वाद के दूषित सिद्धान्त ने उनके उखड़े हुए पांव यहां फिर जमा दिये हैं।

अब यह एक प्रकट सत्य है कि भारत में ईसाई-मत का प्रचार अन्य कारणों से उतना नहीं किया जा रहा, जितना कि राजनैतिक कारणों से। भारत में ईसाई-मतप्रचार की प्रगतियों का सूत्र-संचालन और नीति-निर्धारण विदेशों में बैठे हुए बड़े-बड़े कूटनीतिज्ञ ही करते हैं, जिन को पीठ पर बड़ी-बड़ी ईसाई सरकारें हैं।

इस्लाम का सच्चा रूप

पं० हरिदेव "सिद्धान्त भूषण"

० ० ०

घृणा, द्वेष और खूँरेजी के बल पर इस्लाम संसार में फैला और आज भी उसके अनुयायी अन्य विचारों को सहने के लिए तैयार नहीं। मूर्ति-पूजा के विरोध के लिए पराकाष्ठा की भावना रखते हुए भी उसके अनुयायी पैगम्बर के चिह्नों की पूजा उन्माद की स्थिति तक करते हैं। वस्तुतः मानवता, सत्य और शाँति के लिए इस्लाम सदा संकट का कारण रहा है और रहेगा। ऋषि ने 'सत्य' भाव प्रकट करने के लिए ही अपने विचार चौदहवें समुल्लास में प्रकट किए हैं। उन्हीं के आधार पर लेखक ने श्रम पूर्वक लेख प्रस्तुत किया है।

अगर हमें सत्य का कुछ भी आभास हृदयंगम हुआ तो परिश्रम सफल होगा। हमारा विचार किसी का दिल दुखाना नहीं, किन्तु उन्हें सन्मार्ग पर लाना है।

—सम्पादक

० ० ०

इस्लाम मत के संस्थापक

हजरत मुहम्मद का जन्म २० अप्रैल सन् ५७१ ई० को अरब के मक्के शहर की कुरैश कौम में हुआ, दादा ने मुहम्मद और मां ने अहमद नाम रखा। उनके पूर्वज का नाम अब्दमनाफ था, अब्दमनाफ से हाशिम, हाशिम से अब्दुलमतलब, अब्दुलमतलब से अब्दुल्ला और अब्दुल्ला से हज़रत मुहम्मद पैदा हुए थे। उनकी माता का नाम आमना था। उनके दादा अब्दुलमतलब काबे के मन्दिर के पुजारी थे और उन्हें हाशमी कहते थे, इसलिए ह० मुहम्मद साहिब को भी हाशमी कहते हैं। हज़रत मुहम्मद माता के गर्भ में ही थे कि उनके पिता का देहान्त हो गया। जब छः वर्ष के हुए तो माता का भी देहान्त हो गया और उनके पालन पोषण का भार उनके दादा जी पर आ पड़ा। दो वर्ष के बाद उनका भी देहावसान हो गया, उसके पश्चात उनके चचा अबूतालिब ने उनका पालन-पोषण अपने पुत्रों के समान किया। हज़रत मुहम्मद साहिब २२, २३ वर्ष तक अपने चचा की भेड़, बकरियां चराने में लगे रहे। उनके पढ़ाने लिखाने की ओर किसी ने ध्यान न दिया और इस प्रकार वह अनपढ़ ही रह गये इसलिए मुसलमान उन्हें (उम्मी) कहते हैं। इसके पश्चात् हजरत मुहम्मद साहिब ने श्रीमती खदीजा के यहां नौकरी करली। वह मक्के शहर की प्रसिद्ध धनी व्यापारिन थी, वह दो बार बेवा हो चुकी थी, और कई बच्चों की मां थी। वह अरब में ताहिरा नाम से प्रसिद्ध थी, पहले-पहल हज़रत मुहम्मद साहिब उसकी भेड़ बकरियां चराते रहे, वह उनके काम से अति प्रसन्न थीं। इसलिए बाद में वह उन्हें सामान देकर काफिलों के साथ दूसरे देशों में व्यापार के लिए भेजने लगीं, इससे उन को, शाम, बसरा, यमन आदि देशों में जाने और उनके रीति-रिवाजों को जानने का सुअवसर मिला।
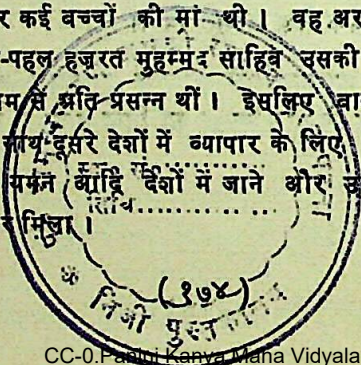
हजरत मुहम्मद बड़े बुद्धिमान, अत्यन्त ईमानदार, चतुर और दूरदर्शी थे। इसलिए ४० वर्ष की आयु में श्रीमती खदीजा ने प्रसन्नता पूर्वक हज़रत मुहम्मद साहिब से निकाह कर लिया जब कि वह २५ वर्ष के थे, और अपना सारा धन माल खदीजा ने अपने शौहर के हवाले कर दिया, और व्यापार का कार्य भी जारी रखा। जब तक खदीजा माई जीवित रहीं तब तक ह० मुहम्मद ने कोई दूसरा विवाह नहीं किया किन्तु उसके मरने के पश्चात् उन्होंने कई विवाह किये। जिनकी संख्या कईयो के मत में १३, कईयों के ११ और कईयों के मत में ९ है। सबसे छोटी बीबी श्रीमती आयशा थीं। यह अबूबक्र की बेटी और हज़रत मुहम्मद की खानदानी भतीजी थी, जब यह निकाह हुआ तब हज़रत मुहम्मद की आयु ५० वर्ष और आयशा की आयु छः वर्ष थी जब ये ९ वर्ष की थीं तब यह विदा होकर पति के घर में आगई थी। यही कुंवारी बीबी थी, शेष सब जिनके साथ हज़रत मुहम्मद के निकाह हुए विधवा थीं। हज़रत मुहम्मद के तीन बेटे, कासिम, अबदुल्ला और इब्राहीम थे, चार बेटियाँ जैनब, रूक़य्या, उम्मे, कलशूम, और फातमा थीं। इब्राहीम को छोड़कर शेष सब सन्तानें श्रीमती खदीजा से उत्पन्न हुई थीं, लड़के तो अल्पायु ने ही का का ग्रास हो गये, किन्तु बेटियाँ जीवित रहीं। उम्मे, कलसूम का निकाह हज़रत उस्मान से और फातमा का हज़रतअली से हुआ था शेष दोनों का दूसरे लोगों से। ह० हसन और हुसैन फातमा के ही बेटे थे हज़रत मुहम्मद साहिब के पहले तीन वर्ष के प्रचार में केवल चार मुसलमान बने। श्रीमती खदीजा, जैद, अबूबक्र और अली इसके पश्चात् भी उन्होंने कई वर्ष प्रचार लिया किन्तु सफलता न मिली। केवल ४० व्यक्तियों ने ईश्वर का नबी और पैगम्बर माना और ईमान लाये। शत्रुओं और विरोधियों से तग होकर १२ सितम्बर सन् ६२२ ई० की रात को हज़रत मुहम्मद चुपके से मक्का छोड़कर मदीने चले गये। उन्होंने मुसलमानों को पहले ही मदीना भेज दिया था। विरोधियों ने पीछा किया किन्तु वे उन्हें कत्ल करने में असफल रहे। हजरत मुहम्मद साहिब ने अपने जीवन में २७ प्रसिद्ध लड़ाईयाँ लड़ी और ८१ छोटी-मोटी, जिनमें सेना लड़ी ह० मुहम्मद पर्याप्त दुःख कष्ट और रोग भोगने के पश्चात् अन्त में बीबी आयशा की रान पर सिर रखे सन् ११

हिजरी में ६३ वर्ष की आयु में असार संसार से विदा हुए और मदीने में दफनाये गये। इनकी मृत्यु के वा जन्म के समय में थोड़ा बहुत मतभेद है।

हज़रत मुहम्मद साहिब के बारे में मुसलमानों का विश्वास

(१) मुसलमान ऐसा मानते हैं कि हः आदम से लेकर हः मुहम्मद तक बहुत से नबी-रसूल, और पैगम्बर आये। किन्तु हः मुहम्मद अन्तिम नबी, रसूल और पैगम्बर हैं। उनके पश्चात् कोई नबी, रसूल या पैगम्बर संसार में नहीं आयगा। उनके पश्चात् जो अपने आप को नबी, रसूल या पैगम्बर कहेगा वह झूठा समझा जायगा।

(२) दूसरा, ईश्वर को छोड़कर हः मुहम्मद समस्त नबियों, रसूलों वा पैगम्बरों तथा मनुष्यों में सबसे उत्तम हैं।

(३) ईश्वर ने उन्हें शबेमेराज में आकाश पर भेंट के लिए बुलाया था। आकाश पर उन्हें स्वर्ग, नरक की सैर कराई गई थी।

(४) वह हिसाब के दिन ईश्वराज्ञा से अपने मतवालों की सिफारिश करेंगे और खुदा उसे स्वीकार करेगा।

(५) हः मुहम्मद पर यकीन, उनके प्रति प्रेम, श्रद्धा और सन्मान प्रत्येक मुसलमान का पहला कर्त्तव्य है।

इस्लाम के सिद्धान्त वा मान्यतायें

(१) एक ईश्वर उपास्य देव है और भला बुरा सब उसके हाथ है।

(२) हजरत मुहम्मद साहिब उसके रसूल हैं, उनकी सिफारिश से ही जन्नत दोजख अर्थात् स्वर्ग नरक मिलेगा।

(३) कुरान खुदा का कलाम अर्थात् ईश्वरीय वाक्य है।

(४) कुन कचकून अर्थात् खुदा कहता है हो जा और सब सृष्टि वा उसके पदार्थ बन जाते हैं।

(५) फरिश्तों को मानना और शैतान से बचना।

(६) स्वर्ग नरक पर विश्वास रखना और उसमें हुए गिलमान का मिलना।

(७) हलाल—हराम को मानना-हलाल का ग्रहण और हराम को त्याज्य समझना।

(८) करामात वा चमत्कार का मानना ।
(९) जिन्नों का होना वा दूसरों को कष्टादि पहुँचाना ।
(१०) काफिरों को कत्ल करना और उनका धन माल सब छीन लेना ।
(११) कुरबाणी अर्थात् पशुवध करना ।
(१२) खतना करना ।
(१३) तोबा से पाप क्षमा होना ।
(१४) दिन में पाँच बार मक्का की ओर मुंह करके नमाज पढ़ना ।
(१५) कयामत के दिन मुर्दों का उठना और मानव के विरुद्ध उसके अंगों का साक्ष्य देना ।
(१६) मक्का का हज करना और संगेअसवद (काले पत्थर) को चूमना ।
(१७) केवल मुसलमानों को स्वर्ग मिलेगा किसी और को नहीं ।
(१८) वर्ष में एक मास रोजा रखना, आमदनी का चालीसवाँ भाग दान देना
(१९) तलवार से अथवा प्रलोभन से जैसे भी हो अपने मत का प्रसार करना
(२०) मूर्ति का पूजना ही नहीं वरन् उसका बनाना भी पाप है ।
(२१) चार स्त्रियों तक विवाह करना और विवाह विच्छेद का मानना ।
(२२) १२४००० नबियों को मानना ।
(२३) १०४ पुस्तकों को ईश्वरीय मानना ।
(२४) १८००० योनियों का मानना परन्तु पुर्नजन्म न मानना आदि, आदि इसलाम के सिद्धान्त वा मान्यतायें हैं आगे इन्हीं में से कुछ सिद्धान्तों की सत्यार्थ प्रकाश के आधार पर हम समीक्षा करेंगे ।

खुदा

पूर्वपक्ष—सब स्तुति परमेश्वर के वास्ते है जो परवरदिगार अर्थात् पालक है सब संसार का क्षमा करने वाला दयालु है ।। सूरत १ आयत १-२

समीक्षा—जो कुरान का खुदा संसार का पालक होता और सब पर दया वा क्षमा करने वाला होता तो अन्य मतावलम्बियों वा पशुओं को मुसलमानों के हाथ से मरवाने का हुक्म न देता । जो क्षमा करने वाला है तो क्या पापियों को भी क्षमा करेगा । पुनः काफिरों को कत्ल का आदेश क्यों दिया ? क्योंकि जो कुरान वा पैगम्बर को न मानें वे काफिर हैं ।

पूर्वपक्ष—वह मालिक है दिन न्याय के का ॥ सूरत-आयत ७

समीक्षा—क्या वह एक दिन ही न्याय करता है, सदा नहीं ? इससे तो अंधेर प्रतीत होता है।

पूर्वपक्ष—खुदा ने उनके दिलों, कानों वा आँखों पर मोहर कर दी है, उनके वास्ते बड़ा अजाब है ॥ सूरत २ आयत ७

समीक्षा—जो खुदा ही उनके अतःकरण, कानों वा आंखों पर मोहर लगाता और इसी कारण वे पाप करते हैं। तो उनका क्या दोष ? यह दोष खुदा का ही है। पुनः उनको सुख-दुख, पाप-पुण्य, का फल भी नहीं होंना चाहिए क्योंकि उन्होंने पाप पुण्य स्वतन्त्रता से नहीं अपितु पराधीनता से किये हैं।

पूर्वपक्ष—उनके दिलों में रोग है। अल्लाह ने उनके रोग को बढ़ा दिया ॥ सूरत २ आयत १०

समीक्षा—बिना अपराध अल्लाह ने उनका रोग बढ़ा दिया। उसे दया न आई। उन बेचारों को बड़ा दुःख हुआ होगा। क्या यह शैतान से बढ़ कर शैतानियत का काम नहीं। किसी के मन पर मोहर लगाना, किसी का रोग बढ़ाना खुदा का काम नहीं, अपितु अपने पापों का फल है।

पूर्वपक्ष—आदम को सारे नाम सिखाये। फिर फरिश्तों के सन्मुख कर कहा। जो तुम हो तो मुझे उनके नाम बताओ ॥ कहा ऐ आदम, उनके नाम बतादे। तब उसने बता दिये। तो खुदा ने फरिशतों से कहा कि क्या मैंने तुम से नहीं कहा था निश्चय मैं पृथिवी और आसमान की छिपी वस्तुओं को और प्रकट था छिपे कर्मों को जानता हूँ ॥ सूरत २ आयत ३१।३३

समीक्षा—फरिश्तों को धोखा देकर अपनी बड़ाई करना यह खुदा का काम नहीं अपितु दम्भ है। इसको कोई बुद्धिमान नहीं मान सकता। ऐसी बातों से जंगली लोगों में पाखण्ड चल सकता है, विद्वानों में नहीं।

पूर्वपक्ष—हमने कहा कि ओ आदम, तू और तेरी जोरू बहिश्त में रहकर आनन्द से जहाँ चाहो मौज करो। परन्तु मत समीप जाओ इस वृक्ष के, पापी हो जाओगे ॥ शैतान ने उनको फुसलाया और उनको बहिश्त के आनन्द से खो दिया ॥ तब हमने कहा कि उतरो। तुम्हारे में कोई परस्पर शत्रु है। तुम्हारा ठिकाना जमीन है। आदम अपने मालिक की कुछ बातें सीखकर जमीन पर आ गया।

समीक्षा—इससे खुदा अल्पज्ञ प्रतीत होता है। अभी बहिश्त में रखा। और पुनः थोड़ी देर में कहा कि बाहर निकलो। इससे भविष्य की बात भी नहीं जानता और वह शैतान को दण्ड देने में भी असमर्थ है। वह वृक्ष किस लिए पैदा किया था ? अपने लिये या दूसरों के लिए ? जो दूसरों के लिए तो फिर रोका क्यों ? आदम खुदा से कितनी बातें सीख के आया ? आदम साहब स्वर्ग से जमीन पर कैसे उतरे ? क्या वह स्वर्ग से पत्थरवत् गिर पड़े ? या पक्षी के समान उड़ कर आये ?

पूर्वपक्ष—जब हमने तुम से प्रतिज्ञा कराई कि न वहाना लहू परस्पर। और किसी अपने को घर से न निकालना। फिर तुमने प्रतिज्ञा की, जिसके तुम स्वयं साक्षी हो। सूरत २ आयत ८४, ८५

समीक्षा—प्रतिज्ञा पालन करना कराना अल्पज्ञों का काम है खुदा का नहीं। जो सर्वज्ञ है वह ऐसी व्यर्थ बातें नहीं करता। आपस का लहू न बहाना, या अपने मत वालों को घर से न निकालना और दूसरे मत वालों का खून बहाना तथा घर से बाहर निकालना कौन सी अच्छी बात है। यह तो मूर्खता और पक्षपात है। क्या परमात्मा पहले नहीं जानता था कि प्रतिज्ञा भंग करेंगे।

पूर्वपक्ष—फरिश्तों, पैगम्बरों, जिब्राईल वा मेकाईल का जो शत्रु है। अल्लाह भी ऐसे काफिरों का शत्रु है।। सूरत २ आयत ९८

समीक्षा—जब मुसलमान कहते हैं कि वह "लाशरीक" अद्वितीय है, तो यह सेना की सेना शरीक कहाँ से आई ? क्या जो औरों का शत्रु है वह खुदा का भी शत्रु है ? ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि वह परमात्मा किसी का शत्रु नहीं।

पूर्वपक्ष—और कहो कि क्षमा मांगते हैं, हम क्षमा करेंगे तुम्हारे पाप, और अधिक भलाई करने वालों के।। सूरत २ आयत १६४

समीक्षा—पाप क्षमा करने की बात सबको पापी बनाने वाली है। पाप क्षमा की बात का उपदेश करने वाला न तो खुदा और न उसकी पुस्तक हो हो सकती है।

पूर्वपक्ष—वह कौन मनुष्य है जो अल्ला को उधार देवे अच्छा, बस अल्लाह दुगना करे उसको उस के वास्ते।। सूरत २ आयत २४५

समीक्षा—खुदा को कर्ज की क्या आवश्यकता ? जो सारे संसार को दे वह कर्ज क्यों ले ? क्या उसका कोष खाली हो गया, या टोटा पड़ गया था जो वह उधार लेने लगा । ये बेसमझी की बात हैं । और एक के बदले दो दो देना ये साहूकारों का काम नहीं, बल्कि दिवालियों, अपव्यय करने वालों या कम आयु वालों का काम है, ईश्वर का नहीं ।

पूर्वपक्ष—जो आसमान और पृथिवी पर है । सब उसी के लिए है । उसी की कुरसी ने आसमान और पृथिवी को समालिया है ।

समीक्षा—जो कुछ आकाश वा पृथिवी पर पदार्थ हैं । वह जीवों के लिए हैं । अल्लाह के लिये नहीं । क्योंकि वह पूर्णकाम है । उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं । जब उसकी कुरसी है तो वह एकदेशी है । जब एकदेशी है तो ईश्वर नहीं, क्योंकि वह व्यापक है ।

पैगम्बर

पूर्वपक्ष—कह आज्ञा पालन कर खुदा की और रसूल उस के की ।। और आज्ञा पालन करो रसूल की ताकिदया किये जाओ ।।

मंजल ४। सि १८। सू। २४ आयत ७०।७१

समीक्षा—जब अल्लाह के साथ पैगम्बर की आज्ञापालन आवश्यक है तो खुदा का शरीक हो गया कि नहीं, यदि ऐसी ही बात है तो खुदा को लाशरीक क्यों कहते वा लिखते हो ।

पूर्वपक्ष—और अटकी रहो बीच घरों अपने के ।। आज्ञा पालन करो अल्लाह और रसूल की सिवाय इसके नहीं ।। बस जब अदा करली जैदने हाजित उससे व्याह दिया हमने तुक्म से उसको तास्क न होवे ऊपर ईमान वालों के तंगी बीच बीबियों से लेपालको उनके के जब अदा करलें उनसे हाजित और है आज्ञा खुदा की की गई ।। नहीं है ऊपर नबी के कुछ तंगी बीच वस्तु के नहीं है मुहम्मद बाप मर्दों का ।। और हलाल की स्त्री ईमान वाली जो देवे विना मिहर के जान अपनी वास्ते नबी के ।। ढील देवे तू जिस को चाहे उनमें से और जगह देवे तरफ अपनी जिसको चाहे, नहीं पाप ऊपर तेरे ।। ऐ लोगों जो ईमान लाये हो मत प्रवेश करो घरों में पैगम्बर के ।।

नं० ५। सि० २२। सू० ३३। आयत २७, ३८, ४०। ५०।५१

समीक्षा:—ये बड़े अन्याय की बात है कि स्त्री घर में कैदी के समान रहे और पुरुष खुले रहें! क्या स्त्रियों का चित्त शुद्ध वायु, शुद्ध देश में भ्रमण करना सृष्टि के अनेक पदार्थ देखना नहीं चाहता होगा।

अल्लाह या रसूल की एक अविरुद्ध आज्ञा है या परस्पर विरोधी। यदि एक है तो दोनों की आज्ञा पालन करो कहना व्यर्थ है। और जो भिन्न-भिन्न विरुद्ध है तो एक सच्ची और दूसरी झूठी हुई। अतः एक खुदा और दूसरा शैतान सिद्ध हो जायगा।

जिसे दूसरे का मतलब नष्ट कर अपना मतलब सिद्ध करना हो, वही ऐसी लीला रचता है। फिर ऐसी बातें करने वालों का खुदा भी पक्षपाती बना। और अन्याय को न्याय ठहराया।

कुरान

कुरान के ज्ञान विषय में कई मत हैं। (१)कुरान शवेकद्र में लोहे मक्फूज से जिब्राईल फरिश्ते को एक बार ही दे दिया गया था, उसने उसे लेकर आकाश में रख लिया, और फिर उसे आवश्यकतानुसार थोड़ा-थोड़ा मुहम्मद साहिब पर उतारता रहा, वह ज्ञान २३ वर्ष में पूर्ण हुआ। (२) माहे रमजान में समस्त कुरान एक ही बार पृथिवी पर भेज दिया गया था। (३) यह कहा जाता है। कि जिब्राईल फारिश्ता ईश्वर की वाणी सुनकर हजरत मुहम्मद पर उतारता था, हजरत मुहम्मद साहिब को जिस समय जिस आयत की आवश्यकता होती थी जिब्राईल उसी समय खुदा से लेकर आजाया करता था।

मक्की जो आयतें मक्का में उतरीं, मदनी जो मदीना में उतरीं, सफरी जो समय-समय पर यात्रामें मुहम्मद साहिब पर उतरीं, ये तीन प्रकार की आयतें कुरान में हैं। इनके बारे में मुसलमानों में बड़ा मत भेद है कि मक्की आयतें कौनसी हैं और मदनी वा सफरी कौन सी, मुसलमान विद्वानों का इस विषय में भी मत भेद है कि पहले क्या उतरा और अन्त में क्या ?

वास्तव में सम्पूर्ण कुरान में सिवाय हजरत मुहम्मद साहब की जीवनी के और कुछ नहीं, सारे सिद्धान्त और कथाएँ पारसी, यहूदी और ईसाई मत से ली गईं हैं। यथा नमाज विधि पारसी मत से, खतना यहूदी मत से, हज अरब के मूर्ति पूजकों से, और वैदिक यज्ञ के स्थान पर कुर्बाणी अर्थात् पशु बध का प्रचलन प्रारम्भ किया गया है। ईसाईयों के खुदा से कुरान के खुदा में केवल इतनी विशेषता है कि वह चौथे आसमान से सातवें आसमान पर जा विराजा है।

कुरान समीक्षा

पूर्वपक्ष—आरम्भ साथ नाम अल्लाह के,, क्षमा करने वाला दयालु है।

उत्तर पक्ष—मुसलमान ऐसा कहते हैं कि कुरान खुदा की वाणी है। परन्तु इस वचन से प्रतीत होता है कि इसका बनाने वाला कोई और है क्योंकि यदि ईश्वर का बनाया होता तो "आरम्भ साथ नाम अल्लाह के" ऐसा न कहता, परन्तु "आरम्भ वास्ते उपदेश मनुष्यों के" ऐसा कहता यदि मनुष्यों को उपदेश करता है कि ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं क्योंकि इससे पाप का आरम्भ खुदा के नाम से होकर उसका नाम दूषित हो जायगा।

पूर्वपक्ष—यह पुस्तक कि जिसमें संदेह नहीं रास्ता दिखाती हैं परहेजगारों को। सूरत १ आयत १

उत्तर पक्ष—परहेज गार अर्थात् धार्मिक लोग तो स्वत: सच्चे मार्ग पर हैं, और जो झूठे मार्ग पर हैं उनको यह कुरान मार्ग ही नहीं दिखला सकता फिर इसका क्या प्रयोजन या उपयोग है।

पूर्वपक्ष—और वे लोग जो इस किताब पर ईमान लाते हैं और जो तुक्म से पहिले उतारी गईं वे छुटकारा पाने वाले हैं।। सूरत २। आयत ३

समीक्षा—जो बाईबल इञ्जील आदि पर विश्वास करना योग्य है तो मुसलमान इञ्जील आदि कुरान के समान ईमान क्यों नहीं लाते और जो लाते हैं तो कुरान की क्या आवश्यकता। जो कहो कुरान में अधिक बातें हैं। तो क्या पहिली किताब में लिखना खुदा भूल गया था। और जो नहीं भूला तो कुरान का बनाना निष्प्रयोजन है। और देखने से विदित होता है कि बाईबल और कुरान की कोई कोई बातें न मिले तो और बात है वरन् सब मिलती हैं। अत: एक ही पुस्तक वेद के तुल्य क्यों न बनादी।

पूर्वपक्ष—हमने मूसा को किताब और मोजजे दिये। सूरत २ आयत ५३

समीक्षा—यदि मूसा को किताब दी तो कुरान का होना निरर्थक है। क्योंकि परमेश्वर की बात सदा एक और बे भूल होती है। और उसमें परस्पर विरोध भी नहीं होता अत: कुरान ईश्वरीय नहीं।

पूर्वपक्ष—उतारा हमने कुरान को अर्बी भाषा में।। और प्रयोजन इसका है पैगाम पहुँचना और ऊपर हमारे है हिसाब लेना।।

सूरत १३। आयत ३७, ४०

समीक्षा—कुरान कहाँ से उतारा। क्या खुदा ऊपर रहता है? यदि यह सत्य है तो वह एकदेशी होने से ईश्वर ही नहीं हो सकता। क्योंकि वह सब स्थानों पर एक रस व्यापक है। पैगाम पहुँचाना हरकारे का काम है और हरकारे की आवश्यकता मनुष्यवत् एकदेशी को होती है व्यापक को नहीं। हिसाब लेना देना भी मनुष्य का काम है ईश्वर का नहीं क्योंकि वह सर्वज्ञ है, इससे निश्चय होता है कि कुरान किसी अल्पज्ञ मनुष्य का बनाया है। ईश्वर का नहीं।

पूर्वपक्ष—निश्चय हमने उतारा कुरान को बीच रात कद्रके॥

सूरत ९७ आयत १

समीक्षा—दूसरे स्थान पर माहे रमजान में उतारने का आदेश है दोनों में ठीक बात कौनसी है।

सार यह है कि जो पुस्तक आदि सृष्टि में न हो (२) जिसमें परस्पर पूर्वपर विरोध हो, (३) जिसमें पक्षपात, लड़ाई, फिसाद फैलाने की बातें हों, (४) जो अपूर्ण हो अर्थात् जिसमें सत्य विद्याओं का अभाव हो, (५) जो सृष्टि नियम और विज्ञान विरुद्ध हो, (६) जिसमें किस्से कहानियाँ हों वह पुस्तक ईश्वरीय नहीं हो सकता अतः कुरान भी ईश्वरीय ज्ञान नहीं।

जन्नत या स्वर्ग

कुरान में जन्नत या स्वर्ग का बार-बार वर्णन किया गया है। इस विषय में लिखा है कि स्वर्गवासियों के लिये सोने चाँदी की ईंटों वा संगमरमर के मोती जड़े मकान होंगे, पहनने के लिये रेशमी कपड़ों के लिबास, वा चमकते मोतियों के आभूषण होंगे। खाने-पीने के लिये, माँस, शराब, कबाब वाफ लादि होंगे। और मनोरंजन के लिये बड़ी सुन्दर, सदा जवान रहने वाली युवतियाँ (हूरें) और गिलमान अर्थात् लड़के होंगे। और कई प्रकार के राग-रंग होंगे। शहद और दूध की नहरें होंगी। सत्यार्थ-प्रकाश में इस विषय पर निम्नरूप से आलोचना की गई है।

पूर्वपक्ष—और आनन्द का संदेश दे उन लोगों को कि ईमान लाये और काम किये अच्छे। उनके वास्ते बहिश्तें हैं। जिनके नीचे से चलती हैं नहरें। जब उनमें से भोजन दिये जावेंगे। तब कहेंगे कि यह वो वस्तु हैं जो पहले हमें दी गई थी और उनके लिये पवित्र बीबियाँ सदैव वहाँ रहने वाली हैं॥

मं० १ सि० १ सूर आ० २५

समीक्षा—कुरानी बहिश्त में दुनिया से बढ़कर क्या है ? क्योंकि जो पदार्थ यहाँ हैं वही बहिश्त में हैं, हाँ इतना अन्तर अवश्य है कि जैसे यहाँ मनुष्य मरते जन्मते आते जाते हैं वहाँ नहीं। यहाँ की स्त्रियाँ सदा नहीं रहती वहाँ हूरें सदा रहती हैं। फिर जब तक कयामत की रात न आएगी। तब तक बेचारियों के दिन कैसे कटते होंगे। हाँ यदि खुदा की कृपा से तथा उसके आश्रय से दिन काटती होंगी तो ठीक है। मुसलमानों का बहिश्त गोकुलिये, गोसाईयों के गोलोक वा मन्दिर जैसा प्रतीत होता है। क्योंकि वहां स्त्रियों का मान्य बहुत और पुरुषों का नहीं। खुदा के घर में स्त्रियों का सम्मान और और प्रेम भी बहुत है, पुरुषों का नहीं। क्योंकि उन्हें खुदा ने सदा के लिये बहिशत में रखा। पुरुषों को नहीं।

पूर्वपक्ष—कह इससे अच्छी और क्या परहेज गारों को खबर दूं कि अल्लाह की ओर से बहिशतें हैं जिनमें नहरें चलती हैं उन्हीं में सदैव रहने वाली शुद्ध बीबियां हैं। अल्लाह की प्रसन्नता से अल्लाह उनको देखने वाला है साथ अन्यों के॥ सूरत ३ आयत १४

समीक्षा—भला यह स्वर्ग है या वेश्यावन ? यह ईश्वर है या स्त्रैण ? जिसमें ऐसी बातें हों वह ईश्वर की पुस्तक नहीं हो सकती। खुदा औरतों का पक्षपाती क्यों है ? औरतें बहिश्त मे सदा क्यों रहती हैं ? जो बीबियाँ बहिश्त में रहती हैं, वे यहाँ उत्पन्न होकर वहाँ गई थीं या वहीं उत्पन्न हुई थीं ? यदि यहाँ से गई हैं तो कयामत की रात से पूर्व ही खुदा ने उन्हें बुला लिया। यदि उन्हें बुलाया तो उनके पतियों को क्यों न बुलाया ? साथ ही कयामत की रात को न्याय होगा, इस नियम को क्यों तोड़ा ? यदि वहीं उत्पन्न हुई थीं तो कयामत तक कैसे निर्वाह करेंगी ? यदि उनके लिये मर्द है तो यहाँ से स्वर्ग में जाने वालों को खुदा हूरें कहाँ से देगा ? और जैसे स्त्रियों को स्वर्ग में सदा रहने वाली बनाया वैसे मर्दों को क्यों न बनाया ? इससे प्रतीत होता है कि मुसलमानों का खुदा अन्यायकारी और बेसमझ है।

पूर्वपक्ष—ये लोग वास्ते उनके हैं बाग हमेशा रहने के। चलती हैं नीचे उनके से नहरें। गहिना पहराये जावेंगे, बीच उसके कंगन सोने के से, और पोशाक पहनेंगे वस्त्र हरित लाही की और ताफिते से तकिये हैं किये हुए बीच उसके ऊपर तख्तों के अच्छा है पुण्य और अच्छी है बहिशत लाभ उठाने की॥

मं० ४, सि० १५ सू० १८ आ० ३१

समीक्षा—वाह जी वाह क्या कुरान का बहिश्त है। जिसमें बाग, गहने, कपड़े, गद्दी, तकिये आनन्द के लिये हैं। विचार के देखें कि यहाँ से वहाँ क्या चीज अधिक है। ये केवल अन्याय है कि कर्म सान्त हों और फल अनन्त दिया जावे और जैसे नित्य मीठा खाने से थोड़े दिन में विष के समान प्रतीत होने लगता है। ऐसे ही जब सदा सुख भोगेंगे तो उनको सुख भी दुख रूप हो जायगा इसलिये महाकाल पर्यन्त मुक्ति सुख भोग के पुनर्जन्म पाना ही सत्य सिद्धान्त हैं।

पूर्वपक्ष—ऊपर पलंग सोने क तारों से बुने हुए हैं॥ तकिये किये हुए हैं ऊपर उनके ग्रामने सामने॥ और फिरेंगे ऊपर उनके लड़के सदा रहने वाले। साथ ग्रावखोरों के ग्रौर ग्राफताबों के और प्यालों के शराब साफ से। नहीं माथा दुखाये जावेंगे उससे ग्रौर न विरुद्ध बोलेंगे। ग्रौर मेवे इस क़िस्मसे कि पसन्द करें। और गोश्त जानवर पक्षियों के इस किस्म से कि पसन्द करें। और वास्ते उनके औरते हैं ग्रच्छी ग्राँखों वाली। मानिन्द मोतियों छिपाये हुओं की। और बिछौने बड़े। निश्चय हमने उत्पन्न किया है औरतों को एक प्रकार का उत्पन्न करना है। बस किया हैं हमने उनको कुमारी। सुहाग वालियां, बराबर ग्रवस्था वालियां, बस भरने वाले हो उस से पेटों को॥

सूरत ५६। ग्रायत १५ से २४ तक ३५ से ३७ ५३-७५

समीक्षा—जब वहाँ सोने की तारों से बने हुए पलंग हैं तो बढ़ई सुनार भी वहाँ रहते होंगे? और खटमल भी काटते वा उन्हें सोने नहीं देते होंगे? क्या वे तकिये लगाकर बहिश्त में निकम्मे बैठे रहते हैं वा कुछ काम भी करते हैं? यदि बैठे ही रहते हैं तो अपचन रोग से रोगी भी होते होंगे? और रोगी होने से मरते भी होंगे। और यदि काम करते हैं तो जैसे मेहनत-मजदूरी यहाँ करते हैं वैसे ही वहाँ तो फिर यहाँ से वहाँ बहिश्त में विशेषता क्या हैं? कुछ भी नहीं? (३) यदि वहाँ लड़के सदा रहते हैं तो उनके माँ, बाप, सासु श्वसर भी रहते होंगे। तब तो बड़ा भारी शहर बसता होगा पुनः मल मूत्र के बढ़ने से रोग भी बढ़ते होंगे? (४) जब मेवे खायेंगे, गलासों में पानी पीवेंगे प्यालों से मद्य पीवेंगे, मांस खायेंगे, तो अनेक प्रकार के दुःख, रोग भी होगे पक्षी वा जानवर भी वहाँ होंगे उनकी हत्या से जहाँ तहाँ हाड़चाम आदि भी बिखरे रहेंगे? कसाई की दुकाने भी होंगी? क्या कहने ऐसे बहिश्त के। (५) और

जो मद्य, मांस, घी, खा के उन्मत्त होते हैं इसलिए अच्छी २ स्त्रियां औरलौंड भी अवश्य चाहियें, नहीं तो ऐसे नशे बाज सिर में गरमी चढ़ने से पागल हो जावें और स्त्री पुरुषों के बैठने के लिए बिस्तरे बिछौने भी जरूर चाहिएं। (६) जब खुदा हूरें वा गिलमान पैदा करता है और हूरें तो यहां से गये उमीद वारों से ब्याही जायेंगी। गिल्मानों का क्या बनेगा ? क्या वह कुवारे रहेंगे या यहाँ से गई कुवारियों के साथ ब्याहे जायेंगे या वह भी हूरों की तरह यहां से गये बहिश्तियों को दे दिये जावेंगे ? इसके बारे में कुछ भी नहीं लिखाये खुदा की भारी भूल है। (७) यदि बराबर अवस्था वाली सुहागिन स्त्रियाँ पतियों को पाके बहिपूत में रहती हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि स्त्री पुरुष की आयु दूनी वा ढ़ाई गुनी चाहिये यह तो बहिश्त की कथा हैं आगे दोजख की सुनिये।

दोजख (नरक)

दोजख या नरक के बारे में मुसलमानों का ऐसा मत है कि वह ऊपर आकाश पर है। उसके सात द्वार हैं । हर द्वार के लिए एक फरिश्ता नियत है। नरक के बड़े अधिकारी का नाम मालिक है। नरक की देख भाल के लिए खुदा ने बड़े भयानक और डरावने फरिश्ते नियुक्त कर रखे हैं। उनके ७० – ७० हजार हाथ और हाथ में सत्तर सत्तर हजार उंगलियाँ हैं। नरक के सब मकान अग्नि के बने हैं। वहाँ कई प्रकार के विषैले, हिंसक जानवर रहते हैं जो नरक वासियों को हर प्रकार का कष्ट वा तकलीफ देते रहते हैं।

पूर्वपक्ष—किया हमने दोजख को वास्ते काफिरों के घेरने वाला स्थान ॥

सूरत २७ आयत १३

यदि काफिर वही हैं कि जो कुरान, पैगम्बर और कुरानोंक्त खुदा कोना माने तथा सातवें आसमान और नमाज आदि को न माने और उन्हीं के लिए दोजख होवे हो यह केवल पक्षपात की बात है। क्योंकि कुरान ही के मानने वाले सब अच्छे और अन्य मतावलम्बी सब बुरे हैं यह कभी नहीं हो सकता। अतः यह लड़कपन की बात है।

पूर्वपक्ष—और जब आवेगा मालिक तेरा और फरिशते पंक्ति बांध के और लाया जावेगा उस दिन दोजख को ॥ सूरत ९१ आयत २१, २३०

समीक्षा : जैसे कोई कोटपाल सेनाध्यक्ष अपनी सेना को लेकर पंक्ति बांध कर फिरे वैसा ही खुदा है। क्या दोजख कोई घोड़ा है जिसे जहाँ कोई वह

ले जावे। यदि दोजख इतना छोटा है तो असंख्य कैदी उस में कैसे समा सकेंगे ? इसी प्रकार इस विषय में कई और बातें हैं जो विस्तार भय से छोड़ दी हैं।

हलाल-हराम

पूर्वपक्ष—तुम पर, मुर्दार लहू और गोश्त सूअर का हराम है। और अल्लाह के बिना जिस पर कुछ पढ़ा जावे। सूरत २ आयत १७३

समीक्षा : जानवर चाहे खुद मरे या मारा जावे मरा हुआ मुर्दार बराबर है। यदि इसमें कुछ भेद हो तो भी मृतकपन में कुछ भेद नहीं। यदि केवल सूअर का निषेध है तो क्या इन्सान का मांस खा लिया जावे ? क्या अल्लाह के नाम पर किसी इन्सान या हैवान को दुख देना ठीक हो सकता है ? कभी नहीं इससे प्रभु के नाम पर कलंक लगता है। बिना पूर्व जन्म के कर्मों के मूसलमानों के हाथों जानवरों को दुख देना ठीक नहीं। क्या खुदा उनको पुत्र समान नहीं मानता गाय आदि लाभ दायक पशुओं की हत्या का निषेध न करना खुदा को हिंसक और हानिकारक सिद्ध करता है।

पूर्वपक्ष—तुम पर हराम किया गया मुर्दार, लहू, सूअर का मांस, जिसपर अल्लाह के बिना कुच और पढ़ा जावे, गला घोटे, लाठी मारे, ऊपर से गिरपड़े, सींग मारे और दर्द का खाया हुआ। सूरत ५ आयत ३

समीक्षा : क्या इतने ही पदार्थ हराम हैं, अन्य बहुत से पशु तथा तिर्यक जीव कीड़ी आदि मुसलमानों के लिए हलाल होंगे ? अतः यह मनुष्यों की कल्पना है, ईश्वरीय आदेश नहीं। इसलिए प्रमाण नहीं।

नोट—मुसलमान, बलिष्ठ, हिंसक, विषधारी पशुओं और कीड़े मकोड़ों को हराम और साफ सुथरे, कमजोर, तथा आधीन पशु पक्षियों का खाना हलाल समझते हैं।

अन्य विषय

यथा—कुरान की विज्ञान विरुद्ध बातें, करामात वा चमत्कार, जिहाद, हिजरत, कुरबानी, खतना, कयामत, तोबा वा पापों का क्षमा करना, रोजे—व्रत काफिर वा मूर्तिद का कत्ल, आदि कई विषयों पर सत्यार्थ प्रकाश के चौदहवें समुल्लास में प्रकाश डाला गया है, सत्य के अभिलाषी वहीं पढ़ने का कष्ट करें। विस्तार भय से उपरोक्त वा इन से भिन्न कई बातों की समीक्षा नहीं की गई। पाठक साधारण अंकों में इन पर भविष्य में लेख पायेंगे।

एक पुरोहित को स्थान चाहिए

एक योग्य युवान, अनुभवी एवं उपदेशक, संस्कार कराने में अत्यन्त पटु हैं। जिस समाज को उनकी सेवा प्राप्त करने की इच्छा हो शीघ्र पत्र व्यवहार करें। आप दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर के सिद्धान्त भूषण हैं। अब तक बराबर 'पुरोहित' कार्य ही करते हैं। आशा है अधिकारी मन्त्री महोदय उनकी नियुक्ति करते अवश्य लाभ उठावें।

पत्र व्यवहार इस पते पर करें

शान्ति प्रकाश, वेद प्रचाराधिष्ठता आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब गुरुदत्त भवन जालन्धर।

सिद्धान्त वादी आर्यों का प्रतिनिधि
राजधानी से प्रकाशित
आर्य समाज का रक्षक मासिक
वैदिक युग

जिसके संचालक हैं प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य विश्वश्रवा व्यास, एम. ए०

महर्षि दयानन्द की मान्यताओं के अनुरूप आर्य समाज को ढालने के लिए आज ही सदस्य बनिए। **वार्षिक मूल्य ६)**—एक प्रति ५० नए पैसे व्यवस्थापक "वैदिक युग" ११६ गौतम नगर नई दिल्ली

नमूना पत्र लिख मुफ्त मंगाएँ।

मस्तिष्क एवं हृदय

सम्बन्धी भयंकर पागलपन, मृगी, हिस्टीरिया, पुराना सरदर्द, ब्लडप्रेशर, दिल की तीव्र धड़कन, तथा हार्दिक पीड़ा आदि सम्पूर्ण पुराने रोगों के परम विश्वस्त निदान तथा चिकित्सा के लिए परामर्श कीजिए—

कविराज योगेन्द्रपाल शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि

मुख्याधिष्ठाता—कन्या गुरुकुल हरिद्वार
मुख्य सम्पादक—'शक्ति सन्देश' साप्ताहिक, कनखल
संचालक—आयुवद शक्ति-आश्रम कनखल
पो० आ० गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)
फोन नं० कार्यालय ९०, निवास ७७

जीवन बनाने वाला साहित्य

आयुर्वेद साहित्य—सचित्र रस शास्त्र १२रु० । आयुर्वेदीय द्रव्य गुण विज्ञान १०), अनुभूत योग चर्चा प्रथम भाग २॥), अनुभूत योग चर्चा द्वितीय भाग ३॥), शरीर क्रिया विज्ञान १२), माधव निदान परीक्षा परिशिष्ट ६), अशोक वैद्य विशारद गाइड (प्रथम भाग ६), अशोक वैद्य विशारद गाइड द्वितीय भाग ८) आयुर्वेद भिषक् गाइड १०)

लघु उद्योग साहित्य—इन पुस्तकों में थोड़ी पूंजी से होने वाले अनेकों उन लाभदायक धन्धों का सविस्तार वर्णन है जिनसे जनता हजारों रुपये कमा रहे हैं । हिन्दी संस्करण पुस्तक की पृष्ठ संख्या ८४८, मूल्य १३), अंग्रेजी तथा मराठी संस्करण १२॥) गुजराती, बँगला, तेलगू, तामोल, मलयालम तथा कन्नड भाषाओं के संस्करण का मूल्य १३) है ।

धार्मिक, स्त्रोयोपयोगी साहित्य—

स्त्री शिक्षा २॥), बुनाई शिक्षा, ५), पाक भारती ६) सिलाई कटाई शिक्षा ३), आर्य भजन पुष्पांजलि १।), रणभेरी ॥), चीन की शरारत ।), नित्य कर्म विधि १५ रु० सैंकडा, सत्यार्थ प्रकाश साधारण २), सत्यार्थ प्रकाश विशेष १३)

प्रत्येक पुस्तक का डाक व्यय पृथक् होगा।

मधुर प्रकाशन

११०४, कूचा हरजसमल, बाजार सीताराम, दिल्ली-६

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के

नए महत्व पूर्ण प्रकाशन

१.Principles of Arya Smaj by Late Shri Chamupati M. A.

प्रचार के लिए अपूर्व भेंट । बढ़िया कागज । उत्तम छपाई । आकर्षक आवरण पृष्ठ संख्या १३२ । मूल्य केवल १ रु० २५ नये पैसे मात्र । १० या अधिक प्रतियों के मंगाने पर मूल्य १ रु० प्रति ।

२. नीहारिकावाद और उपनिषद—स्व० पं० चमूपति एम. ए. लिखित--अत्यन्त प्रभावपूर्ण टैक्ट । जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति पर वैदिक दृष्टिकोण विद्वानों की आंखें खोलने वाला है । १८×२२/४ साइज पर पृष्ठ २४ । मूल्य २५ नए पैसे, २० रु० सैंकड़ा ।

३ संसार को आर्य समाज का संदेश—पं० भारतेन्द्र नाथ "साहित्यालंकार" लिखित--यह ट्रैक्ट प्रचार के लिए अत्युपयोगी है । भेंट में देने और वैदिक विचारधारा प्रसार के लिए सबल साधन—२०×३०/१६ बड़ा साइज पृष्ठ २८ । मूल्य १० नये पैसे,२५० के २० रु०,५०० के ३५ रु०,एक हजार के ६० रु० ।

४. कुलियात आर्य मुसाफिर (हिन्दी अनुवाद)—धर्मवीर पं० लेखराम जी की अमूल्य कृति कुलियात आर्य मुसाफिर पुस्तक का हिन्दी में सभा ने कई वर्षों के परिश्रम तथा काफी व्यय करके छपवाया है । पृष्ठ संख्या ४२५, बढ़िया कागज, आकर्षक टाइटल है । मूल्य लागत मात्र ६ रु० है ।

५. स्वतन्त्रानन्द लेखमाला—आर्य समाज के लौह पुरुष वीतराग सन्यासी श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों का संग्रह करके प्रकाशित किया गया है । पृष्ठ संख्या २४० मूल्य केवल १.२५ है ।

६. धर्मवीर पं० लेखराम—अमर शहीद पं० धर्मवीर लेखराम का जीवन चरित्र अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज द्वारा लिखित पृष्ठ संख्या १२५ बढ़िया कागज, आकर्षक टाइटल मूल्य १) २५ है ।

रामचन्द्र जावेद अधिष्ठाता

प्रकाशन विभाग—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब १५ हनुमान रोड नई दिल्ली

मुद्रक तथा प्रकाशक शिवकुमार शास्त्री के लिए सम्राट् प्रेस दिल्ली से मुद्रित